श्रीकृष्ण-सन्देश
वर्ष : ७ अंक : २

निगमामृत

(ऋग्वेदीय श्रीसूक्त)

३

अश्वपूर्वां रथमध्यां हस्तिनादप्रबोधिनीम्।
श्रियं देवीमुपह्वये श्रीर्मादेवी जुषताम् ॥

अश्व जुरे जहाँ अग्रिम भागमें
वा रथके बसि बीच जु राजैं,
जागृति - सी जगमें जगि जाय
मतंग - घटा जिनकी जब गाजै।
देवी दयामयी इन्दिराको तेहि
पास बुलावत हौं निज आजै,
मां सुत - ज्यौं अपनाइ सनेहसों
मोहिं सदा मम गेह बिराजैं॥

४

कां सोस्मितां हिरण्यप्राकारामार्द्रां ज्वलन्तीं तृप्तां तर्पयन्तीम्।
पद्मे स्थितां पद्मवर्णां तामिहोपह्वये श्रियम्॥

अकथ कहानी मन-बानी सों अतीत जाको—
मुख अरविंद मंद मंद मुसकावै है,
चहर दिवारी जाके दुर्गकी सुवर्नमयी
दीपति दयार्द्र तृप्त तृप्ति बरसावै है।
आसन लखात कमलाको कमलासन पै
कमल बरन रूप - रासि सरसावै है,
आवै रमा सोइ ताहि सादर पुकारौं, धरि—
आस-बिसवास दास निकट बुलावै है॥

श्रीकृष्ण-सन्देश

धर्म, अध्यात्म, साहित्य एवं संस्कृति-प्रधान मासिक

प्रवर्तक

ब्रह्मलीन श्री युगलकिशोर बिरला

संख्या ●

वर्ष : ७, अङ्क : २

सितम्बर, १९७१

श्रीकृष्ण-संवत् : ५०७०

शुल्क ●

वार्षिक : ७ रु०

आजीवन : १५१ रु०

प्रकाशक :

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ, मथुरा

दूरभाष : ३३८

'श्रीकृष्ण-सन्देश'के उद्देश्य तथा नियम

उद्देश्य : धर्म, अध्यात्म, भक्ति, साहित्य एवं संस्कृति-सम्बन्धी लेखों द्वारा जनताको सुपथपर चलनेकी प्रेरणा देना और जनमानसमें सदाचार, सद्विचार, राष्ट्रप्रेम, आस्तिक, समाजसेवा, सर्वाङ्गीण समुन्नति तथा युगके अनुरूप कर्तव्यबोध जाग्रत् करना 'श्रीकृष्ण-सन्देश' का शुभ उद्देश्य है।

• नियम : उद्देश्यमें कथित विषयोंसे संबद्ध श्रुति, स्मृति, पुराण आदिके अविरुद्ध तथा आक्षेपरहित एवं लोककल्याणमें सहायक लेख ही इस पत्रिकामें प्रकाशित होते हैं। लेखोंमें काट-छाँट, परिवर्तन-परिवर्धन आदि करने अथवा उन्हें न छापनेका संपूर्ण अधिकार सम्पादकका है। अस्वीकृत लेख बिना माँगे नहीं लौटाये जाते। वापसीके लिए टिकट भेजना अनिवार्य है। लेखमें प्रकाशित विचारके लिए लेखक ही उत्तरदायी है, सम्पादक नहीं।

लेखक उद्देश्यमें निर्दिष्ट विषयपर ही उत्तम विचारपूर्ण लेख भेजें। लेख स्वच्छ और सुपाठ्य अक्षरोंमें कागजके एक ही पृष्ठपर बायें हाशिया छोड़कर लिखा होना चाहिए। लेखका कलेवर अधिक बड़ा न रहे। सामग्री सुन्दर, सामयिक तथा प्रेरणाप्रद हो। लेख 'सम्पादक' 'श्रीकृष्ण-सन्देश' रू० नं० ६, कैलगढ़ कालोनी, जगतगंज, वाराणसीके पतेपर भेजें।

• 'श्रीकृष्ण-सन्देश' अगस्त माससे प्रारम्भ होकर प्रत्येक मासकी पहली तारीखको प्रकाशित होता है, इसका वार्षिक मूल्य ७) है। जो लोग एक सौ इक्यावन रुपये एक साथ एकबार जमा कर देते हैं, वे इसके आजीवन ग्राहक माने जाते हैं। उन्हें उसी चंदेमें उनके जीवन भर 'श्रीकृष्ण-सन्देश' मिलता रहेगा।

• ग्राहकको अपना नाम-पता सुस्पष्ट लिखना चाहिए। ७) चंदा मनि-आर्डर द्वारा अग्रिम भेजकर ग्राहक बनना चाहिए। वी० पी० द्वारा अंक जानेमें अनावश्यक विलम्ब तथा व्यय होता है।

• विज्ञापन : इसमें उत्तमोत्तम समाजोपयोगी वस्तुओंका ही विज्ञापन दिया जाता है। अश्लील, जादू-टोने आदि तथा मादक द्रव्योंके विज्ञापन नहीं छपते। विज्ञापन पूरे पृष्ठपर छपनेके लिए ५००) रुपये तथा आधे पृष्ठपर छपनेके लिए ३००) रुपये भेजना अनिवार्य है।

पत्र-व्यवहारका पता :
व्यवस्थापक—'श्रीकृष्ण-सन्देश'
श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ
मथुरा

अनुक्रम

हमारे व्रत, पर्व और उत्सव

[संवत् २०२८ आश्विन शुक्ल प्रतिपद् १६ सितम्बर '७१ से कार्तिक कृष्ण अमावास्या, १९ अक्तूबर '७१ तक]

आश्विन शुक्ल

तिथि	वार	दिनाङ्क	व्रत-पर्व
१	सोम	१९ सित०	शारदीय नवरात्रारंभ। मातामह-श्राद्ध।
४	गुरु	२३	विनायकी गणेशचतुर्थी।
५	शुक्र	२४	ललिता-पञ्चमी।
८	सोम	२७	सरस्वती, शयन, दुर्गाष्टमी।
९	मङ्गल	२८	महानवमी-नवरात्र-पारणा।
१०	बुध	२९	विजयादशमी।
११	गुरु	३०	पापाङ्कुशा ११ व्रत (सबके लिए)। सरस्वती-विसर्जन।
१३	शनि	२ अक्तू०	प्रदोषव्रत। गांधी-जयन्ती।
१५	सोम	४	कोजागरी, शरत्-पूर्णिमा (व्रतके लिए)।

कार्तिक कृष्ण

तिथि	वार	दिनाङ्क	व्रत-पर्व
३	गुरु	७	करवा चौथ, संकष्टी गणेशचतुर्थी व्रत।
८	सोम	११	अहोई-अष्टमी व्रत।
११	गुरु	१४	रम्भा ११ व्रत (स्मार्तोंके लिए)।
१२	शुक्र	१५	,, (वैष्णवोंके लिए)। गोवत्स-द्वादशी।
१२	शनि	१६	शनि-प्रदोष व्रत। धन्वतरि-जयन्ती, धनतेरस।
१३	रवि	१७	मासशिवरात्रि व्रत।
१४	सोम	१८	नरकचतुर्दशी। हनुमज्जयन्ती। दर्शश्राद्ध तुला-संक्रान्ति।
३०	मङ्गल	१९	भौमवती ३०।

भगवान्‌की अमरवाणी

•

जो श्रीकृष्ण-जन्मस्थानके परिसरमें गूँजती है

•

'मैं भक्तोंके अधीन हूँ !'

•

मैं श्रीकृष्ण-जन्मस्थानके दर्शनार्थ पहुँचा तो मुझे सारे परिसरमें एकही वाणी गूँजती सुनायी पड़ी। श्रीकृष्ण-जन्मस्थानकी ओर विशेषता बताना मैं भूल गया और वही वाणी जितनी स्मरण आ रही है, आप प्रेमी पाठकोंकी सेवामें प्रस्तुत करता हूँ। ऐसी वाणीके अधिष्ठान स्थानका उत्थान और संरक्षण हम भारतीयोंके लिए कितना अनुपेक्षणीय है, यह पृथक् बतानेकी आवश्यकता नहो।—एक *श्रीकृष्ण प्रेमी*

"मेरा एक नियम है, निश्चय है कि 'जो लोग मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं उन्हें उसी प्रकार भजता हूँ।' यहाँ दो बातें हैं : एक, जो मेरा भजन करता है, उसका मैं भजन करता हूँ; जो मेरा भक्त, उसका मैं भी भक्त ! दूसरी, जो जैसे भजता है, उसे मैं उसी तरह भजता हूँ। जो मुझे सखा मानकर भजता है मैं उसके साथ सख्यभाव निभाता हूँ। जो मुझे वात्सल्य-स्नेह से भजता है, उसकी गोद में उसीका शिशु बनकर खेलता हूँ। तात्पर्य, मैं भाव का बदला भाव से और भजन का बदला भजन से चुकाता हूँ। भक्त सर्वथा मेरे अधीन होता है, मेरी रुचिके विपरीत कुछ भी करना नहीं चाहता। मैं भी भक्त के पराधीन रहता हूँ। अपनी सारी स्वतन्त्रता उसे अर्पित कर उसके परतन्त्र बन जाता हूँ। वह खिलाये तो खाऊँ, नचाये तो नाचूँ, हँसाये तो हँसू और रुलाये तो रोऊँ ! मैया न खिलाये तो मैं खाऊँ नहीं, दूसरों के खिलाने से मेरी भूख नहीं जाती, मन नहीं भरता। मैया के वात्सल्य-रससे सिक्त होकर

साधारण भोजन भी मेरेलिए अमृत बन जाता है। गोपियाँ मुझे नचाने में सुख मानती हैं, नेकसे माखनके लिए मुझे नाचनेको कहती हैं, उनकी खुशीके लिए मुझे नाचना ही पड़ता है। उस नृत्यमें मुझे स्वयं भी बड़ा सुख मिलता है। सखा मधुमंगल मुझे बात-बातमें हँसाता है और मैं हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाता हूँ। इसी तरह एक क्षणके लिए भी मेरा वियोग न सह सकनेवाली श्री राधा जब मेरेलिए रोती हैं तो मी उनके दर्शनके लिए रो पड़ता हूँ।

यह भक्त-परतन्त्रता इसलिए है कि मुझे भक्तजन अतिशय प्रिय हैं। मेरे भक्त साधुजनोंने मेरे हृदयपर पूरा अधिकार जमा लिया है। उन साधु भक्तोंके विना मैं अपने आपकी भी शुभाशंसा नहीं चाहता। अनपायिनी लक्ष्मी भी मुझे उतनी प्रिय नहीं हैं, जितने कि भक्तजन। मुझे भक्तोंके कुशल-मङ्गल, योगक्षेत्रकी जितनी चिन्ता रहती है, उतनी अपने लिए नहीं होती। मैं भक्तके सामने अपने आपकी कोई परवाह नहीं रखता। जो मुझे ही अपनी परमगति—अपना सबसे बड़ा सहारा मानते हैं, जो अपनी स्त्री, पुत्र, घरबार, आप्त सुहृद, प्राण तथा उत्तम धनको त्यागकर मेरी शरण आ गये हैं; उनको मैं कैसे छोड़ सकता हूँ? जैसे सती-साध्वी स्त्रियाँ अपने सदाचारी पतिको वशमें कर लेती हैं, उसी प्रकार मुझमें मन लगानेवाले समदर्शी साधु भक्त मुझे वशीभूत कर लेते हैं, अपनी भक्तिके मोलपर खरीद लेते हैं। मेरी सेवा के बदले उन्हें सारूप्य, सामीप्य, सार्ष्टि और साम्राज्य—चारों मुक्तियाँ भी प्राप्त होती हों तो वे उन्हें नहीं लेना चाहते। मेरी सेवासे ही वे पूर्णमनोरथ होते हैं; फिर कालके प्रभावसे जो नष्ट होनेवाले भोग आदि हैं, उनको तो वे ले ही कैसे सकते हैं? साधु भक्तजन मेरा हृदय हैं और मैं उनका हृदय हूँ। मेरे सिवा दूसरी किसी वस्तुको वे नहीं जानते, नहीं चाहते और मैं भी उन्हें छोड़कर दूसरी किसी वस्तुको थोड़ी मात्रामें भी ग्रहण करना नहीं चाहता।

यद्यपि मैं सब भूतों के प्रति समान भाव रखता हूँ; संसारमें कोई न तो मेरा द्वेषपात्र है और न प्रीतिपात्र; तथापि जो भक्तिभावसे मेरे भजनभावमें लगे हैं, वे मुझमें हैं और मैं उनमें हूँ। इसे कोई पक्षपात कहना चाहे, तो कह ले, परन्तु मैं भक्तोंके हाथ बिका हुआ हूँ। उनके लिए सब कुछ कर सकता हूँ। सारे विश्वको छोड़ सकता हूँ, किन्तु भक्तोंको कदापि नहीं। यह कहने और घोषित करनेमें मुझे रत्तीमात्र भी संकोच नहीं है कि जो मेरा भक्त है, वही मानव मुझे प्रिय है। मैं अपने दासोंका दास हूँ।"

●
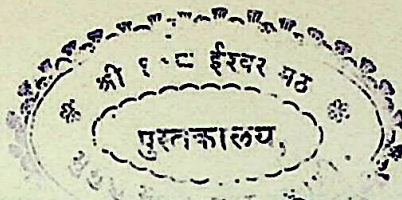
यदा यदा हि धर्मस्य
ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थान - मधर्मस्य
तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

श्रीकृष्ण-सन्देश

मथुरा

७ वर्ष : अङ्क २

परित्राणाय साधूनां
विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापना - ऽर्थाय
संभवामि युगे युगे ॥

श्याम-वन्दना

वन्दौं नटवर स्याम-चरनकौं ।
परसि जिन्हें यह धरा धन्य भइ,
दूर भयो दुख जनम-मरनकौं ।

होंहिं नैन जुग कालिन्दी-तट,
स्रौन जाहिं बन कल बंसीवट
लीला-भूमि ललित मन-मधुबन,
चातक चित घनस्याम बरनकौं ।

भाव गोपिका भगति-भिखारिन,
चाव, चकोरी चन्द्र-पुजारिन,
कला-कोकिला कुहुकै कविता–
रास-रसिक मनि ताप हरनकौं ।

राधावर रस-रीति-बिधायक,
पार्थ-सखा रन-गीता-गायक,
पूरन ब्रह्म बिस्व-मायापति–
करत 'अशोक' सदैव सरनकौं ।

—श्री कमलाप्रसाद अवस्थी 'अशोक'

अखण्ड भारतके महान् प्रतिष्ठाता

राष्ट्र-पुरुष श्रीकृष्ण

श्री दर्शनानन्द

योगिराज कृष्णके प्रादुर्भावके समय भारतीय राष्ट्रका राजसूत्र अधर्मी, निरंकुश एवं स्वार्थान्ध नरेशोंके हाथोंमें था। वे स्वेच्छाचारी एवं विलासी बन गये थे। सम्पूर्ण समाज विश्रृंखल हो चुका था। वर्णव्यवस्था शिथिल हो गयी थी। सांसारिक कार्योंमें रत स्त्री, वैश्य एवं शूद्रको मोक्षका भी अधिकारी नहीं समझा जाता था। नैतिक दृष्टिसे भारत पतनके गर्तमें चला गया था। अधर्म प्रबल हो उठा था। फिर भी देश धार्मिक पुरुषोंसे विहीन नहीं था। जो धर्मपरायण पुरुष शेष रह गये थे, वे इतने उन्नत थे कि उनका एक पृथक् समाज ही बन गया था और वे सांसारिक कार्योंसे विरत एवं उदासीन हो गये थे। कोई ऐसा व्यक्ति दृष्टि-गोचर नहीं होता था जो अधर्मका प्राबल्य समाप्त कर धर्मकी प्रतिष्ठा कर सके। इसी हेतु भगवान् श्रीकृष्णका आविर्भाव हुआ।

अवश्य ही श्रीकृष्णके अवतरणके समय, भौतिक दृष्टिसे देश उत्कर्षके शिखरपर पहुँचा हुआ था, पर साथ ही नैतिक पतनकी भी पराकाष्ठा हो चुकी थी। एक ओर हस्तिनापुरमें कौरव-पाण्डवोंका गृह-कलह था तो दूसरी ओर कंसने अपने पिता महाराज उग्रसेनको बन्दी बना रखा था। जरासन्धके भीषण अत्याचारसे भी जनता त्रस्त थी। आसाम-नरेश नरकासुरने सोलह सहस्र सुन्दरियोंको अपने रंगमहलमें ला रखा था। सम्पूर्ण राष्ट्र मिथ्याभिमानी, स्वार्थी एवं निरंकुश नरेशोंके देशद्रोही कार्योंसे पददलित एवं त्रस्त था। देश सहस्रों भागोंमें बँट गया था। ये टुकड़े इतने छोटे थे कि मथुराके प्रतापी कहे जानेवाले कंसको भी पड़ोसके ही वृन्दावन, गोकुल, बरसाना आदि नगरोंमें कोई पूछता तक न था। यद्यपि प्राचीन गौरवके कारण सम्पूर्ण विश्व भारतका नेतृत्व स्वीकार करता था, पर उसे यह खटकता भी था। फलस्वरूप सभी विदेशी नरेश महाभारतके युद्धमें पाण्डवोंका नहीं, वरन् कौरव-पक्षका समर्थन कर रहे थे। यूरोपका बिडालाक्ष, अमेरिकाका बभ्रुवाहन, चीनका भगदत्त तथा ईरानका शल्य सभी दुर्योधनके पक्षधारी थे।

राष्ट्रपुरुष द्वारकाधीश श्रीकृष्ण मातृभूमिके खण्ड एवं विग्रह तथा आपदग्रस्त स्वरूपको देखकर उद्विग्न एवं विचलित हो उठे। राष्ट्र खण्ड-खण्ड हो चुका था। प्रत्येक खण्डका राजा

दूसरेको नीचा दिखाकर अपनी महत्त्वाकांक्षाकी पूर्ति चाहता था। इस हेतु वह विदेशियोंकी सहायता प्राप्त करनेमें भी हिचकता नहीं था। यहाँके धनधान्य एवं प्राकृतिक सम्पदाओंसे पूर्ण सस्य-श्यामल प्रदेशोंको देखकर विदेशियोंके मुँहमें भी पानी आ रहा था। कृष्णने यह देखा तथा देशोद्धारके चिन्तनमें लगे। उन्होंने देशके छोटे-छोटे राज्योंको समाप्त कर विशाल अखण्ड भारतकी स्थापना कर देशके भविष्यको उज्ज्वल एवं गौरवशाली बनानेकी कल्पना की। अखण्ड भारतका राजसूत्र सञ्चालन करनेका उपयुक्त पात्र उन्होंने अर्जुनको समझा। उन्हें अर्जुनमें वे सभी गुण दृष्टिगोचर हुए जो अखण्ड भारतके राजसूत्रके सफलतापूर्वक सञ्चालनके लिए आवश्यक थे।

भगवान् कृष्णने कुरुक्षेत्रके मैदानमें संसारभरकी सेनाओंके युद्ध-हेतु सन्नद्ध होनेके काफी पूर्व ही महाभारत रचानेकी तैयारी पूर्ण कर ली थी। अर्जुनको अखण्ड भारतका सूत्रधार निश्चित करनेके पश्चात् इस त्रिकालदर्शीने पाञ्चाल देशके साथ पाण्डवोंका सम्बन्ध स्थापित करानेका प्रयत्न किया, क्योंकि उक्त देशकी शक्ति तत्कालीन भारतमें द्वितीय श्रेणीकी थी। प्रथम श्रेणीकी शक्ति जरासन्ध की थी। स्वयं महाराज द्रुपद भी अपनी पुत्रीका विवाह अर्जुनसे करना चाहते थे। वे स्वयं अर्जुनकी प्रतिभा एवं शक्तिका रसास्वादन कर चुके थे जब कि अर्जुनने उन्हें पराजित कर गुरु द्रोणाचार्यके सम्मुख प्रस्तुत किया था।

अखण्ड भारतकी परिकल्पना

अर्जुनके साथ द्रौपदीका विवाह चुपचाप भी हो सकता था। किन्तु संसारको ज्ञात था कि पाण्डव लाक्षागृह में भस्म हो चुके हैं। अतः विवाहके पूर्व अर्जुनको प्रकाशमें लाकर भारतके भावी सूत्रधारको जनताके सम्मुख प्रस्तुत करना आवश्यक था। इसी हेतु स्वयंवर की ऐसी शर्त रखी गयी जिसे केवल अर्जुन ही पूर्ण कर सकें। अर्जुनके समान कर्ण भी शक्ति रखता था। पर यह व्यवस्था कर ली गयी थी कि यदि अर्जुन की अनुपस्थितिमें कर्ण प्रयास करे तो उसे रोक दिया जाय। अखण्ड भारतकी ओर यह था भगवान् कृष्णका पहला कदम !

भारतको एक तथा अखण्ड बनाने-हेतु ही भगवान् कृष्णने महाभारत रचानेकी कल्पना की। वे अनुभव करते थे कि शान्तिके लिए भी क्रान्तिकी आवश्यकता है। यह कहना मिथ्या है कि महाभारतके युद्धका कारण दुर्योधन द्वारा पाण्डवोंका अधिकार छीन लेना मात्र था। उस युद्धका कारण दुर्योधन द्वारा पाण्डवोंको लाक्षागृहमें जलानेका प्रयास, धर्मराजको अन्याय द्वारा जुएमें हराना, द्रौपदीका चीरहरण आदि भी नहीं था; वरन् युगपुरुष भगवान् कृष्ण की भारतको अखण्ड एवं जगद्गुरु बनानेकी इच्छा थी।

बाल्यकालसे ही भगवान् कृष्णमें अनुपम एवं अलौकिक गुण परिलक्षित होने लगे थे। पन्द्रह वर्ष की ही अवस्थामें वे केवल बहत्तर दिनोंमें चारों वेद-वेदांगोंका अध्ययन कर उनके मर्मज्ञ बन गये। सोलह वर्षकी ही अवस्थामें अत्याचारी कंस जैसे दुर्दमनीय शत्रुका विनाश कर डाला। जरासन्ध एवं शिशुपाल जैसे पराक्रमी एवं शक्तिशाली राष्ट्रद्रोहियोंका अनायास ही वधकर उन्होंने जनताको राहत प्रदान की। केवल अठारह दिनोंमें महाभारतके युद्धमें

पाण्डवोंको विजयश्री दिलाकर अखण्ड भारतकी स्थापना करानां भगवान् कृष्णका ही काम था। केवल एक सप्ताहमें इन्द्रकी पराधीनतासे व्रजको मुक्त कराकर गोवर्धनकी गौरव-वृद्धि करानेका श्रेय उन्हींको है। कालिया नागका मानमर्दन कर उन्होंने व्रजभूमिको नागोंके भयसे मुक्त कर दिया। महाभारतकालमें कोंकण, मियांवली, बन्नू, कोहाट आदिमें नागवंशियोंका विशेष प्रभाव था। किन्तु भगवान् कृष्ण ही ऐसा व्यक्ति था जिसने नागवंशियोंसे व्रजको बचाया।

कंसदमनके पश्चात् कृष्णने सत्ता स्वयं हस्तगत न करके कंसके पिता महाराज उग्रसेन-को सौंपी।

युगपुरुष कृष्णका इष्टदेव राष्ट्र ही था। राष्ट्र-गौरवके प्रश्नपर व्यक्तिगत मान-सम्मानका उनके लिए, कोई प्रश्न ही नहीं था। वे देशको अखण्डकर विदेशी प्रभावसे मुक्त रखना चाहते थे। कंसवधके पश्चात् जरासन्ध ही प्रधान शक्तिशाली राष्ट्रद्रोही था। वह सत्रहबार मथुरा-पर आक्रमण करके पराजित हो चुका था। उसने इस बार जयचन्दके समान कालयवन नामक विदेशी राजाकी सहायतासे आक्रमण करनेकी योजना बनायी। आशंका यह थी कि मुहम्मद गोरीके समान कालयवन भी कृष्ण-जरासन्ध युद्धका उपयोग करेगा। कृष्ण अपने निजके सम्मानहेतु राष्ट्रको विदेशियोंके हाथोंमें समर्पित नहीं कर सकते थे। कृष्णने इस बार जरासन्धसे सैनिक युद्ध न करनेका निश्चय किया। अतः वे मथुराको छोड़ द्वारिका पुरीकी ओर रवाना हुए। कालयवनने उनका पीछा किया। कृष्ण तो पहलेसे ही तैयार थे। उन्होंने उसकी सेनाको घेरकर उसका संहार कर डाला।

राजसूय-यज्ञका पथ प्रशस्त

कुछ समय पश्चात् धर्मराजने राजसूय-यज्ञ करनेकी अपनी इच्छा कृष्णसे व्यक्त की। कृष्णने उन्हें बताया कि इस समय जरासन्ध ही सबसे प्रबल एवं प्रतापी राजा है। भगदत्त जैसे विदेशी राजा भी उसकी पराधीनता स्वीकार कर चुके थे। देशके अधिकांश राजा या तो उसके बन्दीगृहमें पड़े थे या भयभीत हो भाग गये थे। अतः सर्वप्रथम उसीकी शक्तिको समाप्त करना परमावश्यक था। किन्तु सैनिक शक्तिद्वारा उसको पराजित करना कठिन था। नीति-बलसे उसको पराजित किया जा सकता था। इस हेतु भगवान्ने एक योजना बनायी तथा भीम एवं अर्जुनके साथ स्नातकोंका वेष धारणकर जरासंधसे मिले। उसने उन लोगोंको अतिथिशालामें ठहराया। कृष्णने उससे कहा। 'मेरे दोनों साथी मौनव्रती हैं। अर्धरात्रिके समय वे मौनव्रत तोड़ेंगे। यदि आप चाहें तो उस समय इनसे बातचीत कर सकते हैं।' अर्ध-रात्रिके समय जब जरासन्ध अतिथियोंके मध्य पहुँचा तब भगवान् कृष्णने सबका परिचय देते हुए बताया : 'ये लोग तुमसे युद्ध करने आये हैं, क्योंकि तुम क्षत्रिय जातिका नाश कर रहे हो।' फलस्वरूप उसने भीमसे मल्लयुद्ध करना स्वीकार कर लिया और वहीं उन्हीं द्वारा मारा गया। कृष्णने उसके स्थानपर उसके पुत्र सहदेवका राज्याभिषेक किया। जरासन्ध-वधसे भार-तीय राजाओंमें प्रसन्नताकी लहर फैल गयी तथा राजसूय-यज्ञका पथ प्रशस्त हो गया।

जरासन्ध-वधसे कृष्णका बहुत बड़ा मनोरथ पूर्ण हुआ और अखण्ड एवं महान् भारतके

निर्माणका बहुत बड़ा कण्टक दूर हुआ। इसके बाद श्रीकृष्णने पाण्डवोंद्वारा दिग्विज-ययात्राका श्रीगणेश कराया।

सर्वश्रेष्ठ पुरुष कृष्ण

दिग्विजय-यात्रा पूर्ण होनेपर राजसूय-यज्ञ प्रारम्भ हुआ। पितामह भीष्म के परामर्शसे सर्व-श्रेष्ठ पुरुषके रूपमें भगवान् कृष्णको अर्घ्य प्रदान किया गया। इसपर राष्ट्रद्रोही शिशुपाल आग-बबूला हो गया। कृष्ण शान्तिपूर्वक सुनते रहे। अन्तमें उन्होंने सुदर्शन चक्र द्वारा शिशुपालको धराशायी कर दिया।

राजसूय-यज्ञका यह अंश योगिराज कृष्णके चरित्रपर पूर्ण प्रकाश डालता है। भीष्म पितामहने तो कृष्णको सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति घोषित करते हुए कहा था :

> एष ह्येषां समस्तानां तेजोबलपराक्रमैः।
> मध्ये तपन्निवाऽऽभाति ज्योतिषामिव भास्करः॥
> असूर्यमिव सूर्येए निर्वातमिव वायुना।
> भासितं ह्लादितं चैव कृष्णेनेदं सदो हि नः॥

किन्तु उनके प्रबलतम विरोधी चेदि-नरेश शिशुपालने भी उनपर कठोरतम आक्षेप करते हुए उनके चरित्रपर किञ्चित् मात्र भी आक्षेप नहीं किया। उसने चीरहरण, रासलीला आदि की ओर तनिक भी इंगित नहीं किया। वास्तवमें इन लीलाओंका केवल आध्यात्मिक महत्त्व है।

शिशुपाल-वधके पश्चात् शाल्वने द्वारकापर भयंकर आक्रमण कर दिया। जिस समय शाल्व एवं उसके नगराकार विमानका विनाश करनेमें भगवान् कृष्ण व्यस्त थे, कपट-द्यूत द्वारा कौरवोंने पाण्डवोंको पराजित कर दिया। स्वयं भगवान्ने युधिष्ठिरके समक्ष इस बातको स्वीकार किया है कि उक्त कपट-द्यूत की मुझे सूचनातक न थी। अन्यथा मैं इस अनर्थको ही न होने देता।

पाण्डवोंके अज्ञातवासके समय श्रीकृष्णने एक और महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न कर डाला। उस समय यदुवंशियोंमें दो दल थे : एक कौरव-पक्षीय, दूसरा पाण्डव-पक्षीय। प्रथम दलके नेता थे बलराम एवं कृतवर्मा तो द्वितीय पक्षके समर्थक थे स्वयं भगवान् कृष्ण। भगवान् जानते थे कि पाण्डवोंके अज्ञातवासके पश्चात् कौरव-पाण्डव युद्ध अनिवार्य है। वे नहीं चाहते थे कि इस युद्धमें यदुवंशी परस्पर बँट जाय। अतः यदुवंशियों की सभामें उन्होंने सुझाव रखा कि कौरव-पाण्डव युद्ध होनेपर यादव सर्वथा तटस्थ रहें तथा खुलकर भाग न लें। यदि कोई व्यक्ति किसी दलके साथ व्यक्तिगत मित्रता अथवा सम्बन्धके कारण उसका साथ देना चाहता है तो उस सहायता की भी सीमा होगी। वह युद्ध-सञ्चालनमें सहायता कर सकता है, किन्तु स्वयं शस्त्र ग्रहणकर युद्ध नहीं कर सकता। इस सुझावको सभीने सहर्ष स्वीकार किया।

इस प्रकार भगवान् कृष्णने यदुवंशियोंको विभक्त होनेसे बचाकर एक अत्यन्त गम्भीर समस्याका समाधान कर लिया। फलस्वरूप बलरामजीने दुर्योधनसे स्पष्ट कह दिया :

नाहं सहायः पार्थस्य नापि दुर्योधनस्य वै।
इति मे निश्चिता बुद्धिर्वासुदेवमवेक्ष्य ह॥

पाण्डवोंका अज्ञातवास समाप्त होनेके पश्चात् कृष्णने महाराज द्रुपद, सात्यकि, पाण्डव आदिसे परामर्श कर निश्चय किया कि कौरवोंके साथ पैतृक सम्पत्ति की प्राप्ति-हेतु संधिका प्रयास तो हो ही साथ ही, युद्धकी तैयारीमें भी ढिलाई न हो। श्रीकृष्ण स्वयं कौरवोंके पास सन्धि-हेतु दूतरूपमें जानेको प्रस्तुत हुए। युधिष्ठिर कृष्णका वहां जाना उचित नहीं समझते थे, क्योंकि वहां उनके लिए जाना खतरनाक था। कृष्णने युधिष्ठिरकी आशंकाओंको निर्मूल करते हुए तथा अपनी अपरिमेय शक्तिका विश्वास दिलाते हुए कहा : 'वहाँ जानेसे लोगोंको कौरवों-की पाप-बुद्धिका ज्ञान हो जायगा और कोई पाण्डवोंको दोषी नहीं ठहरायेगा।'

यदुवंश-शिरोमणि भगवान् श्रीकृष्णने शुभ मुहूर्तमें हस्तिनापुरके लिए प्रस्थान किया। धृतराष्ट्र उनके आगमनके समाचारसे चिन्तित एवं व्यग्र हो उठे। उन्होंने निश्चय किया कि भगवान्का अपरिमेय स्वागत करके तथा उन्हें अपार एवं बहुमूल्य सामग्रियां देकर पाण्डवोंसे पृथक् कर दिया जाय। महात्मा विदुर एवं पितामह भीष्मने महाराज धृतराष्ट्रके इस मन्तव्यकी भर्त्सना करते हुए कहा : 'धनका लोभ देकर कृष्णको पाण्डवोंसे पृथक् नहीं किया जा सकता। कृष्ण जिस कार्यके सम्पादनका संकल्प कर लेते हैं, उससे वे किसी प्रकार विरत नहीं किये जा सकते। इन बातोंको सुनकर दुर्योधनने कहा : 'आप लोग पाण्डवोंसे सन्धि की चर्चा करते हैं, मैंने पाण्डवोंके महान् समर्थक कृष्णको यहाँ आनेपर बन्दी बनानेका पूरा प्रबन्ध कर रखा है जिससे पाण्डव, यादव एवं सम्पूर्ण पृथ्वी मेरे अधीन हो जाय' :

इदं तु सुमहत्कार्यं श्रृणु मे यत्समर्थितम्।
परायणं पाण्डवानां नियच्छामि जनार्दनम्॥
तस्मिन् बद्धे भविष्यन्ति वृष्णयः पृथिवी तथा।
पाण्डवाश्च विधेया मे स च प्रातरिहैष्यति॥

प्रातःकाल भगवान् श्रीकृष्णके हस्तिनापुरमें प्रवेश करनेपर उनका अपार स्वागत एवं सत्कार हुआ। श्रीकृष्णने सभामण्डपमें प्रवेश कर सन्धि न होनेपर आगे होनेवाले युद्धका सम्पूर्ण उत्तरदायित्व दुर्योधनपर डालते हुए महाविनाशका चित्र खींचा। उन्होंने धृतराष्ट्रको समझानेका प्रयत्न करते हुए कहा : 'पाण्डव सन्धि एवं युद्ध दोनोंके लिए तैयार हैं। आप जैसा उचित समझें, करें।

इसी बीच दुर्योधनने कर्ण, शकुनि आदिके परामर्शसे कृष्णको वहीं बन्दी बनानेका निश्चय किया। इसकी सूचना परमवीर, नीतिज्ञ सात्यकिको मिल गयी। उन्होंने कृतवर्माको

यादव-सेना सुसज्जित कर सभा-भवनके द्वारपर पहुँचनेको कहा और स्वयं भगवान् कृष्णको इशारा किया। भगवान् कृष्ण समझ गये और बोले : 'दुर्योधन तुम बहुत मूर्ख हो जो मुझे अकेला समझ बन्दी बनानेका प्रयास कर रहे हो। नहीं जानते कि पाण्डव, यदुवंशी, रुद्र, आदित्य आदि सभी मेरे समीप हैं।' इतना कहकर परमवीर तेजस्वी कृष्ण अट्टहास कर उठे :

एकोऽहमिति यन्मोहान्मन्यसे मां सुयोधन।
परिभूय सुदुर्बुद्धे ग्रहीतुं मां चिकीर्षसि॥
इहैव पाण्डवाः सर्वे तथैवान्धकवृष्णयः।
इहाऽऽदित्याश्च रुद्राश्च वसवश्च महर्षिभिः॥
एवमुक्त्वा जहासोच्चैः केशवः परवीरहा।
तस्य संस्मयतः शौरेर्विद्युद्रूपा महात्मनः॥

शत्रुओंके मध्य इस प्रकार घोषणा करते हुए वीर एवं परम धैर्यवान् कृष्णने कहा : ''मेरे अथक प्रयासके बाद भी दुर्योधनकी हठवादिताके कारण शान्ति न हो सकी। अब निश्चय ही युद्ध होगा जिसमें पाण्डवोंकी विजय होगी।' इतना कहकर भगवान् कृष्ण सभा-भवन से बाहर निकल गये।

श्रीकृष्ण जिस लक्ष्यसे हस्तिनापुर गये थे वह सिद्ध हो गया। कुरुक्षेत्रके मैदानमें जानेसे पूर्व ही आधा युद्ध समाप्त हो गया। युद्ध-स्थलमें जिनपर विजय प्राप्त करनी थी, उनके हृदयों-को उन्होंने हस्तिनापुरमें ही जीत लिया।

युद्धके पूर्व ही वे एक और विजय प्राप्त करना चाहते थे। वे जानते थे कि द्रोण और भीष्म शारीरिक रूपमें दुर्योधनके पक्षधारी होते हुए भी अन्तरमें पाण्डवोंसे प्रेम एवं सहानुभूति रखते हैं। दुर्योधनकी मुख्य शक्ति कर्ण है। यदि कर्णका हृदय भी जीत लिया जाय तो दुर्योधन बेकार हो जायगा। श्रीकृष्णने कर्णके हृदयमें यह भावना जागरित करनेका प्रयत्न किया—दुर्योधन उसकी वीरताका समुचित आदर नहीं करता। युद्धमें प्रथम सेनापति होंगे भीष्म, द्वितीय सेनापति होंगे द्रोण तथा तृतीय होंगे शल्य; कर्णका कहीं स्थान नहीं। वीरता दिखायेगा कर्ण और श्रेय मिलेगा पितामह आदि सेनापतियोंको! फलतः कर्णने भीष्मके रहते रणभूमिमें न जानेकी घोषणा की। इस प्रकार कर्ण श्रीकृष्ण द्वारा कौरवोंके लिए निरर्थक-सा बना दिया गया।

इसके पश्चात् श्रीकृष्ण एक और कार्य करना चाहते थे कि भीष्मके पश्चात् भी अगर कर्ण रणस्थलमें पधारे तो निरर्थक ही रहे। इस हेतु उन्होंने कुन्तीको गंगातटपर भेजकर कर्णके हृदयमें कुन्तीके प्रति मातृ-भावना जागरित कर दी। कर्णने अर्जुनको छोड़ चारों भाइयोंको न मारनेकी प्रतिज्ञा की।

धीमान् एवं प्रज्ञावान् केशवने मानव-हृदयकी दुर्बलताओंका ज्ञान होनेके कारण पाण्डवोंमें से किसीको भी सेनापति नहीं बनाया। वे जानते थे कि पितामह एवं गुरु द्रोणके

सम्मुख आनेपर पाण्डव प्रेमाकुल हो युद्धकी भाषा भूल जायेंगे। अतः उन्होंने सेनापति बनाया उस व्यक्तिको जिसे भीष्म और द्रोण दोनोंसे बदला लेना था—द्रोणसे अपने पिताके अपमानका तथा भीष्मसे कौरवों द्वारा अपनी बहन द्रोपदीके अपमानका। इस प्रकार यदि पाण्डव मोहवश शस्त्र रख भी दें तो युद्ध-संचालनमें कोई गड़बड़ी होनेकी आशंका न रह जाय।

आखिर युद्ध-स्थलमें आनेपर अर्जुनको मोह हो ही गया, जिसे भगवान्ने गीताका अमर उपदेश देकर दूर किया।

भीष्मने अपनी मृत्युका उपाय बता दिया। फिर भी कृष्णने काफी समय उन्हें जीवित रखा जिससे कर्ण मैदानमें न आये, क्योंकि उसने प्रतिज्ञाकी थी कि पितामहके रहते वह रण-स्थलमें नहीं जायगा।

अन्तमें श्रीकृष्णकी नीतिमत्ता एवं प्रज्ञाके कारण पाण्डवोंकी विजय हुई तथा अखण्ड भारतमें एक शक्तिशाली धर्मपूर्ण सत्ताकी स्थापनाका उनका स्वप्न पूर्ण हुआ।

●

राष्ट्र-पुरुषके राष्ट्रोन्नायक उपकरण

पुराणकारों एवं शास्त्रकारोंने भगवान् कृष्णको विष्णुका अवतार कहा है। पूर्णावतारमें सत्, चित्, आनन्द अर्थात् कर्म, ज्ञान और उपासनाका पूर्ण प्रकाश होता है। महाभारतमें भगवान् कृष्णके कर्मका आदर्श परिलक्षित होता है। गीतामें उनके ज्ञानका पूर्ण आदर्श प्रकट होता है। पुराणोंमें उपासनाका आदर्श वर्णित है। वास्तवमें वे शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी साक्षात् विष्णु ही थे। कौरवोंकी सभामें शान्तिदूतके रूपमें उनका भाषण एवं कुरुक्षेत्रके मैदानमें गीताका उपदेश उनका शंख है। महाभारतकी रचना उनका चक्र है। युद्धोपरान्त तुरत सारी परिस्थितिपर नियन्त्रण प्राप्त कर लेना उनकी गदा है। महान् विजयोंको प्राप्त करनेपर भी जलमें कमलके समान ऐश्वर्य, अधिकार एवं पदलिप्सासे निर्लिप्त रहना उनका पद्म है। उनके जितने भी नाम हैं, वे उनके विभिन्न गुणों एवं विशेषताओंके परि-चायक हैं। वे कृष्ण थे, क्योंकि उनका व्यक्तित्व आकर्षक था। वे राधावल्लभ एवं राधारमण थे, क्योंकि वे आत्माकी आह्लादिनी शक्ति राधाके प्रिय थे। वे गोपाल थे, क्योंकि वे देशके निःस्वार्थ सेवक थे एवं राष्ट्रकी समृद्धिके आधार गोवंशके रक्षक थे। अच्युत एवं माधव थे, क्योंकि वे अपने ध्येय एवं लक्ष्यसे कभी विचलित नहीं हो सकते थे।

●

जीवनकी गंभीर समस्याका ललित निरीक्षण

अपनेको कभी हीन मत समझो !

अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती

☆

मनुष्यके जीवनमें अपने प्रति कभी हीनताका भाव न होना चाहिए। हीनताका भाव है : 'हम तो बहुत-बहुत छोटे हैं, गरीब और दुःखी हैं, असमर्थ और अकर्मण्य हैं, पापी हैं, हमारे लिए क्या होगा ?' जिसके मनमें हीनताका यह भाव घर कर जाता है, वह जीवनमें सफलताकी आशा नहीं रख सकता।

स्त्री-शरीर और पुरुष-शरीरका भेद मानकर यह समझना कि 'स्त्री-शरीर परवश है, हीन है, छोटा है, असमर्थ है, उसमें उन्नतिके लिए कम सुविधा है, स्त्रियाँ बड़ा काम नहीं कर सकतीं या ऊँची शिक्षा नहीं पा सकतीं'—यह हीनताका भाव न होना चाहिए, क्योंकि सबके शरीरमें ईश्वर भीतरसे शक्ति दे रहा है। दोनोंके शरीर मिट्टीसे बने हैं और दोनों धरतीपर रहते हैं। एक ही जल दोनों पीते और एक ही वायुमें दोनों साँस लेते हैं। दोनों एक ही आकाशमें घूमते हैं। दोनोंकी इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और आत्मा समान हैं। ईश्वरकी दी हुई वस्तुमें कभी भेदभाव नहीं होता।

यह आत्मा किसी भी प्रकार अपमान-योग्य नहीं। दूसरेका अपमान करना पाप है, वैसे अपना अपमान करना भी पाप है। इसलिए किसीके जीवनमें ऐसा भेदमय भ्रम कभी न रहना चाहिए।

उत्थातव्यं जागृतव्यं योक्तव्यं भूतिकर्मसु।
भविष्यतीत्येव मनः कृत्वा सततमव्यथैः॥

सभी लोग उत्साहपूर्ण भावनासे युक्त हों, दुःख-दर्दको दुःख-दर्द न समझें और आगे बढ़ें। निश्चय करें कि 'जिस कार्यमें हाथ डालेंगे, जो भी संकल्प करेंगे, उसे पूरा करके रहेंगे।' यदि यह सोचें कि 'हमारे पास साधन-सुविधा और बुद्धि कम हैं तो उसकी भी विशेष परवाह न करें। हमने इतिहासमें पढ़ा और बहुत बार अनुभव भी किया है कि रण-मैदानमें सैनिक लड़ता और अपने साथियोंको गिरते-मरते देखता है, दो-चार कारतूस ही उसके पास बचे होते हैं। फिर भी वह हिम्मत नहीं हारता। उसे विश्वास रहता है कि हमारे पीछे राजाकी

शक्ति है, बहुत बड़ी सेना हमारी सहायताके लिए आ रही है और वह निर्भीक होकर लड़ता है।

काम करते समय जिसे ईश्वरपर भरोसा रहता है, जो यह मानता है कि ईश्वरीय शक्ति ही हमारी शक्ति है, वह हमेशा हमारी मदद करता है और करेगा, जब वह हममें बलका संचार कर देगा, उसकी विजय निश्चित है, उसे सफलता मिलकर रहेगी। इसलिए कभी हानिका डर न रखना चाहिए।

आजकलके बच्चोंसे हम बात करते हैं तो वे कहते हैं : 'अपने पौरुषपर विश्वास होना चाहिए, ईश्वरपर विश्वास करना पराधीन होना है।' वास्तवमें ऐसा नहीं है। अदेशमें, अकालमें, जंगलमें, युद्धमें या असहायावस्थामें यदि हमारे हृदयमें ईश्वर पर दृढ़ विश्वास है तो हममें आत्मबलकी वृद्धि होती है ; हम कभी कमजोर नहीं रहते। एक महान् शक्तिसे हमारा संबंध जुड़ जाता है, तब मात्र बाह्य साधन-हीनताके कारण दीन न बनना चाहिए।

जो हठि राखै धर्मको तेहि राखै करतार—जिस मनुष्यको चोरी, बेईमानी, झूठ और अधर्म पर विश्वास है और सत्य, ईमानदारी, धर्म तथा ईश्वरपर विश्वास नहीं, वह आगे चलकर दुःखी ही होगा।

यह धारणा नितान्त गलत है कि जिनके पास मोटर-मकान, भोग-श्रृंगार, वस्त्र-आभूषण अधिक हैं, वे हमसे अधिक सुखी हैं और हम कम सुखी। मनुष्यमें उच्चता-श्रेष्ठता चरित्रसे, हृदयकी पवित्रतासे आती है, बाहरी साधन-सामग्रीसे नहीं।

स्वामी विवेकानन्द विदेशमें गये तो दो विदेशी उन्हें देख अंग्रेजीमें परस्पर उनकी निन्दा करने लगे। वे समझते थे कि यह कोई भिखारी, गँवार, मंगन आया है, क्योंकि उनकी रहन-सहन तथाकथित उच्चकोटिकी न थी। कुछ देर बाद पास आकर उन्होंने स्वामीजीसे पूछा : 'तुम किस देशसे आये हो ?' स्वामी विवेकानन्दने उत्तर दिया : 'हम उस देशसे आये हैं, जहाँ मनुष्यकी पहचान वस्त्रसे नहीं, विचारसे होती है।' भारत मोटर और मशीनसे आदमीको बड़ा बनानेवाला देश नहीं। यह अन्तर्मुख-प्रकृतिका देश है। अन्तःकरणके मूल्योंको ही विशेष महत्त्व-पूर्ण समझता है।

एक सज्जनने बताया : 'हम पैसेसे आदमीको खरीद सकते हैं।' मैंने उससे पूछा : 'तुम्हें क्या चाहिए—मैं या पैसा ? जिसे बड़ा समझते हो, ले लो।' दो चीजें एक साथ नहीं मिल सकतीं। हमारी कीमत पैसेसे कम है तो हमपर कृपा ही रखो। संसारकी सम्पूर्ण संपत्तिसे एक मनुष्यकी कीमत अधिक है। अर्जुनसे श्रीकृष्णने कहा : 'चाहे तो शस्त्रास्त्रयुक्त एक अक्षौहिणी सेना ले जाओ या बिना अस्त्र-शस्त्रके मुझे माँग लो।' अर्जुनने बिना किसी ननु-नचके श्रीकृष्णको माँग लिया। कारण वे मनुष्य थे, मनुष्योंके मनुष्य थे।

सबके हृदयमें श्रीकृष्ण हैं। मकान-मोटर, लाखों-करोड़ों रुपयोंसे मनुष्यका मूल्य अधिक है। बार-बार मनुष्य नहीं मिलते, संपत्ति तो आती ही जाती रहती है। यदि एक बार हमने अपने बारेमें किसी सच्चे आदमीका विचार बिगाड़ दिया तो संसारकी कोई संपत्ति उसे बदल नहीं सकती।

एकबार एक सज्जन विदेशयात्राके पूर्व काशी पहुँचे और एक महात्मासे कहने लगे : 'हमें आप आशीर्वाद और उपदेश दीजिये ।' महात्माने कहा: "तुम्हारे भीतर एक न्यायाधीश बैठा है । वह है तुम्हारी आत्मा । उसकी दृष्टिमें अपनेको अपराधी मत बनाना, बस !'

ईश्वरने जब सृष्टि बनायी तो समस्या खड़ी हुई कि प्राणी अपने पापका लेखा-जोखा कैसे करे ? इसके लिए उसने तत्काल सबके भीतर एक यन्त्र—हृदय लगा दिया । मनुष्य जो कुछ भी करता है, सारा उसमें अपने आप रिकार्ड हो जाता है । यह बिलकुल असंभव है कि मनुष्य चाहे कुछ भी अनुचित करे और अपनेको हृदयसे पापी न माने । समाज, राष्ट्र और विश्वकी शक्तिके सामने एक मनुष्यका मन बहुत कमजोर है । ऊपर-ऊपरकी वाचिक मान्यतासे काम नहीं चलता । यदि तुमने बुरा काम किया है, तो तुम्हारा दिल तुम्हें अवश्य कोसेगा कि 'बहुत बुरा किया ।' जब तुम्हारा अन्तर्मन स्वीकार करेगा कि यह कार्य बुरा है, तो उसी समय वह हृदयमें रिकार्ड हो जायगा । ईश्वर सबका अलग-अलग बही-खाता नहीं रखता, सबके हृदयमें ही उसका बही-खाता रहता है ।

हम चोरी करें, पर कोई हमें चोर न समझें, यह द्वैत चल नहीं सकता । दूसरेको तो तुम चोर मानो और स्वयं चोरी करके भी अपनेको चोर न मानो, यह चल नहीं सकता । जो काम दूसरेके लिए बुरा है, वह तुम्हारे लिए भी बुरा है । इसीमें अन्तर्मनको स्वीकृति होगी ।

अपने आत्मबलकी वृद्धिके लिए और हीनतासे बचनेके लिए दो बातें ध्यानमें रखनी चाहिए: (१) ईश्वर पर विश्वास और (२) जिस काम के कारण दूसरेको नीच समझते हैं, वह काम न करना । हम-तुममें द्वैत उत्पन्न करनेवाली मर्यादा कभी चल नहीं सकती । अपनी दृष्टिमें अपनेको न गिरायें । अन्ततः ईश्वरपर विश्वास और सच्चरित्रता ये ही दो बातें मनुष्यको ऊपर उठानेवाली हैं ।

अपनेको कभी दुःखी न समझें । यह बात एकदम थोथी है कि 'हमारे पास कुछ नहीं और दूसरेके पास सब कुछ है ।'

एक दिन प्रातःकाल किसी मयूरीका बालक सोकर उठा तो रोने लगा । माँ ने पूछा : 'बेटा, क्यों रोता है ?' बोला : 'पड़ोसके पेड़पर सारिका रहती है । उसका बालक कितना मधुर बोलता है ! मुझे ऐसी आवाज नहीं मिली, इसीलिए रोता हूँ ।'

दूसरे दिन मयूरी बेटेको लेकर सारिकासे मिलने चली । उधर सारिकाका बालक भी रो रहा था । मयूरी अपने बालकके साथ कुछ दूरीपर ठहर गयी कि बालक शांत हो जाय, तब जाऊँ । सारिकाने बालकसे पूछा : 'क्यों रो रहा है ?' वह बोला : 'पड़ोसी मयूर-बालकको कैसी सुन्दर, रंग-बिरंगी चमचमाती पोशाक मिली है, उड़नेको कितने मोहक पंख मिले हैं ! मुझे भी वैसी पोशाक चाहिए ।'

दोनों बच्चोंको अपनी विशेषताओंका बोध न था । ईश्वर सबको एक खास योग्यता देकर सृष्टिमें भेजता है । जब मनुष्य दूसरेको देखने लगता है तो अपनी वह विशेषता, वह सामर्थ्य भूल जाता है । मोरको शरीरकी सुन्दरता मिली, तो सारिकाको वाणीकी मधुरता !

दोनों अपनी-अपनी विशेषतामें ही खुश रहें, अपनी योग्यताका सदुपयोग करें और कभी दुःखी न हों।

मयूरी सारिकाके पास पहुँची। वह बोली : 'यह नाचने आया है।' तुरन्त सारिकाने कहा : 'मेरा बेटा मधुर गानेके लिए।' दोनोंमें अपनी-अपनी विशेषता है और वह ईश्वरकी देन है। उसे समझना चाहिए, उसका सदुपयोग करना चाहिए। मोरनी और सारिका तो यह रहस्य समझ गयीं, पर उनके बालक ? बेचारे बालक ही जो ठहरे !

एक युवक किसी महात्माके पास गया और बोला : 'हमारे पास कुछ नहीं है। ईश्वरने हमें कुछ भी नहीं दिया। हम अब नास्तिक बन गये। मरनेके सिवा अब हमारे लिए कोई मार्ग नहीं।' वह पुरुषार्थसे च्युत होने लगा। महात्माने कहा। 'क्या सचमुच तुम्हारे पास कुछ नहीं है ?' युवकने कहा : 'हाँ, सचमुच कुछ नहीं।' महात्माने कहा : 'तुम्हारे पास ऐसी वस्तु है कि चाहो तो कल ही दस हजार, पचास हजार, एक लाख रुपयेमें उसे बेच सकोगे। हमारे पास उसे खरीदनेवाला सेठ भी तैयार हैं। नायमात्मा अवमन्तव्यः—अपने आपको दीन-हीन समझना ईश्वरका ही अपमान करना है।'

दूसरे दिन वही युवक और सेठ भी आ पहुँचे। महात्माने युवकसे पूछा : 'इन्हें अपने दो पाँव दोगे? तुम्हें दस हजार रुपये देंगे ?' युवक बोला : 'ना, ना! पाँव दे देंगे तो हम चलेंगे कैसे ?' महात्माने कहा : 'अच्छा, दोनों हाथ दे देते हो ? तुम्हें बीस हजार रुपया देंगे।' युवकने कहा : 'नहीं, फिर हम काम कैसे करेंगे ?' महात्माने कहा : 'अपनी दोनों आँखें दे दो तो चालीस हजार देंगे और गला काट लेने दो तो एक लाख।' युवक मौन हो गया। कुछ भी देनेको तैयार न हुआ। तब महात्माने कहा : 'जब तुम्हारे पास इन रुपयोंसे अधिक मूल्यके हाथ, पाँव, आँखें, गला आदिसे युक्त कंचन-काया है, तो क्यों कहते हो कि ईश्वरने हमें कुछ भी नहीं दिया ? पाँवोंसे चलो, हाथ, आँख और दिमागसे काम करो तो तुम्हें जीविका मिलकर रहेगी। अपनेको दीन-हीन समझते ही क्यों हो ?'

युवकको नया उत्साह, नयी प्रेरणा, नयी शक्ति प्राप्त हुई। उसे सोचने-समझनेकी नयी युक्ति मिल गयी। उसकी सारी कमियाँ पूरी हो गयीं। थोड़े ही दिनोंमें वह एक श्रेष्ठ पुरुष बन गया।

मनुष्य जब भीतर बैठे ईश्वरको नहीं देखता, उससे प्रेरणा ग्रहण नहीं करता, भोग और दौलतमें ही आसक्त रहता है, तभी फँसता है। जब वह अपने हृदयेश्वर, जगत्के स्वामी, जीवितेश्वरका खयाल नहीं करता, तभी दुःखी होता है। इसलिए कभी अपनेको उदास नहीं करना चाहिए। भगवान्पर भरोसा रखकर कर्तव्य कर्म तत्परतासे करना चाहिए। वह प्यारेसे प्यारा कहीं तुम्हें छोड़कर नहीं गया है।

स्त्री-पुरुष दोनोंका आत्मा चैतन्य हैं और दोनोंका शरीर प्राकृत है। ईश्वरसे जो प्रेरणा, आशा और उत्साह मिलते हैं, उनका सदैव सदुपयोग किया करो।

—प्रेषक : डॉ० उर्वशी जे० सूरती

श्री उड़ियाबाबाके जीवनकी कुछ झलकें*

श्री आञ्जनेय

★

आपद्धर्ममें भी प्रायश्चित्त

श्री उड़ियाबाबा संन्यास लेनेके पूर्व जब नैष्ठिक ब्रह्मचर्य-आश्रममें थे, उस समयकी घटना है—एकबार आप बालेश्वर जा रहे थे। मार्गमें एक गाँव मिला, जहाँ एक घरमें आग लग गयी थी। सभी लोग बाहर निकल आये थे, केवल एक नववधू घरके भीतर रह गयी थी। आगकी लपटोंने घरको सब ओरसे घेर लिया। भीतर जानेका कोई ठीक मार्ग नहीं था। सभी व्याकुल हो रहे थे, पर किसीका यह साहस न होता कि स्वयंको संकटमें डाल उसे मृत्यु-मुखसे बचाये। नववधूका करुणक्रन्दन ब्रह्मचारी के कानोंमें पड़ा। वे मचल पड़े। दयाने धर्ममर्यादाका सेतु तोड़ दिया। वे आगमें छलांग मारकर भीतर घुस गये। नववधू घोर संकटके समय भी परपुरुषसे संकोच कर रही थी। फिर भी ब्रह्मचारी उसे पकड़ कर जबरदस्ती बाहर खींच ले आये।

सन्त हृदय नवनीत समाना। कहा कविन पै कहै न जाना॥
निज परिताप द्रवै नवनीता। परदुःख-दुखी सन्त सुपुनीता॥

यद्यपि इस घोर विपत्तिसे आर्तरक्षाके लिए आपद्धर्मने विवश कर दिया, तथापि इसके पीछे स्वधर्म प्रबल हुआ। स्त्रीको स्पर्श किया—यह बात ब्रह्मचर्य-धर्मके प्रतिकूल थी। भले ही आपत्तिके समय वैसा विवशतः करना पड़ा, तथापि उसका प्रायश्चित्त तो करना ही चाहिए। अतः इसके प्रायश्चित्तस्वरूप आपने तीन दिन और तीन रातका उपवास किया।

अद्भुत स्वप्न

श्री उड़िया बाबाके जीवनकी यह एक विशेषता थी कि उनकी स्थिति जैसी जाग्रत्में रहती, वैसे ही स्वप्नमें भी। एक दिन आपने स्वप्न देखा कि आप गंगाजीकी रेतीमें बैठे हैं।

---

*हमारे श्री महाराजजी (पूज्यपाद श्री उड़ियाबाबाजी महाराजका जीवन-परिचय), लेखक : ब्रह्मचारी श्री शिवानन्द 'आंजनेय'। सम्पादक : श्री स्वामी सनातनदेव। प्रकाशक : श्री पूर्णानन्द तीर्थ (श्रीउड़ियाबाबा) ट्रस्ट-समिति, वृन्दावन (मथुरा)। प्रथम संस्करण : नवम्बर १९७० के पृष्ठ ८३ से उद्धृत)

मध्याह्नका समय हुआ, इसलिए आप भिक्षा माँगनेके लिए चल दिये। कुछ दूर चलनेपर एक दिव्य नगर दिखाई दिया। उसके द्वारपर जरीदार पोशाकें पहने चौकीदार पहरा लगा रहे थे। उनसे पूछकर भीतर गये तो सारा नगर चाँदीके महलोंसे जगमगा रहा था। महलोंके किवाड़ सोनेके थे और उनमें बहुमूल्य रत्न जड़े हुए थे। आपने निरपेक्ष भावसे एक द्वारपर 'नारायण हरिः' बोला। सुनते ही भीतरसे नाना प्रकारके वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित एक देवाङ्गना आती दिखाई दी। उसने बड़े विनीत भावसे भीतर पधारकर भोजन करनेकी प्रार्थना की। किन्तु आपने उसकी ओर दृष्टिपात न करते हुए कहा : "देवि ! थोड़ी भिक्षा दे दो। मेरा नियम भिक्षा ले जाकर मंगलमय भगवान्‌को भोग लगाकर अपने स्थानपर ही प्रसाद पानेका है।" इसपर भी जब उसने भीतर चलनेका ही आग्रह किया, तो आप आगे चल दिये।

फिर तो आप जिस घरके द्वारसे होकर निकलते, वहाँ वैसी ही देवाङ्गनाएँ सुवर्णके थालोंमें भोजन लिये दिखाई देतीं। आप भी जैसे-जैसे उनकी उपेक्षा करके आगे बढ़ते, वैसे-वैसे वे आपके पीछे लग जातीं। अब जहाँ भी आपकी दृष्टि पड़ती, वहीं सुवर्णके थाल लिये दिव्य ललनाएँ दिखाई देतीं। इस प्रकार अपनेको उनसे घिरा देखकर आप बहुत घबराये और छुटकारेका कोई उपाय न देख रोने लगे। रोते-रोते ही आपकी निद्रा भंग हो गयी। उस समय आपको इतना अश्रुपात हुआ कि आपकी गुदड़ी भींग गयी।

वास्तवमें इसीका नाम सच्ची लगन है। जाग्रत्-अवस्थामें कनक और कामिनियोंके जालसे बचनेवाले शूर-वीरोंकी संख्या भी अधिक नहीं होती। वे भी कितने मिलते हैं, जिनमें स्वप्नावस्थामें वैसी ही सावधानी बनी रहे? किन्तु सच्चे साधककी पहचान तो यही है कि उसकी जो दृष्टि जाग्रत्‌में हो, वही स्वप्नमें भी रहे। जिस समय ऐसी दृष्टि प्राप्त हो, उसी समय साधनकी सफलता समझ लेनी चाहिए।

विश्वम्भरकी लीला

श्री उड़ियाबाबा ढाई घाटके स्वामी श्री आत्मानन्दजी मिलकर गंगाजीके ऊपरकी ओर जा रहे थे। कुछ दूर चलनेपर आप एक बंबेके किनारे चलने लगे। आषाढ़ मास लग चुका था। वर्षाऋतुने पूर्ववायु, बादल और बिजलीकी तड़क-भड़कसे अपने आगमनकी सूचना दे दी थी। आप सोचने लगे—बरसात आ रही है, अब कहाँ रहना चाहिए? आसपास कोई ठहरने योग्य गाँव भी नहीं है। यहाँ कोई आदमी भी दिखायी नहीं देता, जिससे पूछा जाय। विचारोंकी उधेड़-बुनमें सायंकाल हो गयी। भगवान् भास्कर विश्राम लेनेके लिए अरुण वस्त्र धारण कर अस्ताचलकी ओर सिधार रहे थे। आकाश-मण्डलने उनकी बिदाईके अवसरपर समयानुसार अरुणवर्ण बिछौना बिछा दिया था। आप एक पिलखिनके तले सिद्धासन लगाकर विराज गये। आज दिनभर भिक्षा नहीं हो पायी थी। सायंकाल भी बीत चुका था। उदरमें वैश्वानर-अग्नि प्रज्वलित हो रही थी। उसमें आहुति देकर प्राणयज्ञ करना था। इधर-उधर दृष्टि डालनेपर भी कोई गांव दिखाई नहीं दिया। जब आपने देखा कि भिक्षा-प्राप्तिका कोई उपाय नहीं तो

आप प्राणोंके प्राण अपने स्वरूपमें स्थित हो गये। 'क्या होता है भूख-प्याससे !' ऐसा सोचकर अपने निर्गुण साक्षी स्वरूपमें समाकर उसकी उपेक्षा करने लगे।

कुछ रात्रि व्यतीत हो गयी। पश्चिमकी ओरसे बादल तितर-बितर हो गये। निर्मल आकाश निशानाथ चन्द्रमाके विहारके लिए उनकी प्रतीक्षा करने लगा। इतनेमें निशाकरका उदय हो गया। उनकी स्निग्ध ज्योत्स्ना चारों ओर छिटकर वन्यप्रदेशको आलोकित करने लगी। सब ओर शान्तिका साम्राज्य छा गया। सारी सृष्टि मानो अमृतपानके लिए खुले हृदयसे निहारने लगी।

इसी समय दो सुन्दर बालक खिल-खिलाकर हँसते आपकी ओर आये। उनके सौन्दर्यने उस प्रदेशको और भी सुन्दर कर दिया। चन्द्रमाने उनके लावण्यमें और भी निखार लानेके लिए उन्हें अपनी चमकीली ओढ़नी ओढ़ा दी, मानो स्वयं ही अपने हाथों उनका श्रृंगार कर दिया हो। उन बालकोंके मुखचन्द्र व्रजेन्द्रचन्द्रके मुखारविन्दके समान मन और हृदयको चुराने-वाले थे। उनके मधुर हास्यने आपको अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। फिर उन्होंने पूछा : 'बाबा। आप रोटी खाओगे ?'

आपने झट कहा : 'हाँ, बेटा ! पर यह तो बताओ तुम्हारा घर कहाँ है और किस जातिके हो ?'

बच्चे हँसी-खुशीमें झूमते बोले : 'बाबा हम तो पासके ही एक गाँवके माहेश्वरी बनिये हैं।'

बाबा : 'बेटा ! तुम रात्रिमें अकेले क्यों घूम रहे हो ?'

बच्चे : 'बाबा ! हम तो यहाँ खेलते-खेलते चले आये हैं।'

महाराजजीको वे दोनों बालक अत्यन्त प्रिय लगे। उन्होंने आपके चित्तको आकृष्ट कर लिया। जान पड़ता था कि ये इस लोकके निवासी नहीं हैं, क्योंकि उनकी सुन्दरता दिव्यातिदिव्य और हँसी तथा बोली मधुररस-बोरी थी। वे दोनों जाकर थोड़ी ही देरमें दो मोटी-मोटी रोटियाँ और केलेका शाक ले आये। आप तबतक ब्राह्मणोंके अतिरिक्त किसी अन्य वर्णकी भिक्षा नहीं पाते थे। किन्तु उन बालकोंने ऐसा मन्त्रमुग्ध कर दिया कि उनकी जातिका विचार न करके वह भिक्षा प्रसन्नतासे पा ली। उसी दिनसे इस नाटकीय ढंगसे आपने तीनों वर्णोंकी भिक्षा करना आरम्भ कर दिया। इस प्रकार विधि-निषेध-श्रृंखलाकी एक कड़ी टूट गयी। दोनों भाई उस चन्द्रिकाचर्चित वातावरणमें आपकी सन्निधिमें खूब हँसते, खेलते और नाचते रहे। उनकी रसमयी क्रीडाओंसे रसनिधि चन्द्रदेव भी मुग्ध हो रहे थे, फिर आपके विषयमें तो कहना ही क्या है ? उनकी मीठी-मीठी बोली तथा बालचापल्यने आपको अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। दृश्यमात्रका बाध करनेवाला आपका हृदय भी उन बालकोंके सौन्दर्य, माधुर्य और चापल्यसे मुग्ध हो गया। वे केवल आपके सामने ही क्रीड़ा नहीं कर रहे थे, प्रत्युत आपके हृदयांगणमें भी विहार करने लगे। फिर बोले : 'बाबा ! हम जायें ?' आपने कहा : 'अच्छा बेटा।'

रात दो घड़ी बीत चुकी थी। उनके जानेपर आप अपने स्वरूप-ध्यानमें बैठ गये। किन्तु उन दोनों भाइयोंकी दिव्य मुसकान, चंचल चितवन, तोतली बोली और ललित लीलाएँ

आपके मानस-पटलपर ऐसी अंकित हुई मानो वे अब भी आपके आगे ज्योंके त्यों हों। आप भीतर-भीतर जैसे आनन्दमग्न होते, वह आनन्द वैसे-वैसे ही आपके नेत्रोंसे छलक-छलककर प्रवाहित होने लगता था। उन्होंने तो आपका चित्त ही चुरा लिया। भावोद्रेकमें दोनों आंखोंसे गंगा-यमुनाके समान प्रेमाश्रुओंकी दो धाराएँ बहने लगीं, मानो उन दोनों धाराओंसे आप दोनों भाइयोंका अभिषेक ही कर रहे हों। निर्गुण-निराकार ध्यानमें आपका मन नहीं लगा, इसलिए आप ध्यान छोड़कर लेट गये।

थोड़ी नींद लेकर आप उठे तो बड़े आश्चर्यकी बात कि वे दोनों भाई ब्राह्म मुहूर्तकी वेलामें मधुर मुसकानके सम्मोहनास्त्र चलाते नृत्य कर रहे हैं। वे हँस-हँसकर 'बाबा! बाबा!' कहते आपके पास बैठ गये। आपने पूछा : 'बेटा! तुम इतनी रातमें क्यों चले आये? अभी तो दिन भी नहीं निकला है।' बोले : 'बाबा, हम खेलनेके लिए चले आये हैं। पर यह बताओ कि कुछ छाछ पिओगे?' महाराजजीने कहा : 'हाँ।' वे झट जाकर एक मिट्टीकी हाँड़ीमें छाछ ले आये और आपके तूंबेमें भरकर चले गये। आप शौचादिसे निवृत्त हुए बिना ही वह छाछ पी गये। उसके एक-एक घूँटमें अद्भुत आनन्दरसकी अनुभूति होती थी। अब यह बात चालू हो गयी कि प्रेममें नियम नहीं होता।

सूर्योदय होनेपर आपको यह जाननेकी उत्कण्ठा हुई कि ये बालक कहाँ रहते हैं। इधर-उधर पूछताछ की, तो मालूम हुआ कि यहाँ तो दूर-दूरतक कोई गाँव नहीं है। फिर मार्गमें एक महात्मासे इस प्रसंगकी चर्चा की तो उन्होंने कहा : 'यह कोई विश्वम्भर भगवान्‌की लीला है।'●

★ वृजमें जन्म लिये घनश्याम ★

वृजमें जन्म लिये घनश्याम,
सुरगण, हिय आनंद अपरिमित।
नरनारी मन हुलसित, पुलकित,
प्रकटे प्रणतपाल सुखधाम॥
सुरसज्जन; सब अतिशय प्रमुदित,
असुर सदल, अति भयबश शंकित!
आये दनुज दलन श्रीश्याम॥
कलुषित दुर्जन जग दुख दाई,
अनाचरण थे जो अधिकाई।
वे सबही पठये सुरधाम॥
वनवारी की चरणरेणुसे,
मुरलीधर की : मधुर वेणु से।
छाया जग मंगल अभिराम।
वृजमें जन्म लिये घनश्याम॥

— श्री पं० शिवनारायण शर्मा —

मुर और भौमके वध, तथा राजकन्याओंके उद्धारपूर्वक

पारिजात-हरण

श्रीरामभिलाष त्रिपाठी, विद्यावारिधि

नरकासुर पृथ्वीका पुत्र था, लेकिन इसकी प्रकृति आसुरी हो चुकी थी। प्राग्ज्योतिष-पुरमें इसने अपनी राजधानी बसायी थी। मुर दैत्य इसका सहायक था और इसने सौ योजन तककी पृथ्वी घेरकर चारों ओर छुरेकी तरह तेज धारवाले शस्त्रोंका पाश लगा दिया था। बहुत तगड़ी किलेबन्दी थी वहाँकी। किसी बाहरी व्यक्तिकी गति वहाँ नहीं थी। सोलह हजार एक सौ राजकन्याओंको जबरदस्ती छीनकर उसने बन्दी बना लिया था। उसके सहायक बहुत-से असुर थे। पूरी पृथ्वीपर उसके अत्याचारसे हलचल मच गया था। आखिर देवताओंके राजा सज्जनोंके परिपालक इन्द्रका भी तो उत्तरदायित्व था। इस तरह कब तक चले, पर शक्ति ही कहाँ रही इन्द्रमें, जिससे उसका सामना करते! अपार बलशाली मायावी असुरकी शक्तिके सम्मुख इन्द्र परास्त थे, चिन्ताव्यग्र थे।

पर भूमण्डलपर उस समय एक ऐसा वीर था जो देवताओंकी भी याचना सुनता था। इन्द्रने अपना ऐरावत कसा और झट पहुँच गये द्वारकामें—श्रीकृष्ण भगवान्‌से मिलने। खबर गयी और भगवान्‌ने इन्द्रको बुलवाया भीतर, वृत्तान्त सुना। सुना गये इन्द्र अपना सारा दुखड़ा नरम-गरम आसुओंके साथ। इन्होंने कुछ बढ़ा-चढ़ाके कहा—किन्तु कहा बड़े टोनसे। कम से कम इन्द्र इस कलामें तो निपुण थे ही। अपना सारा दुखड़ा रो गये 'नरकासुर बड़ा अत्याचार कर रहा है; उसने देवता, सिद्ध, असुर तथाराजाओं आदिकी कन्याओंको हर लिया है; माता अदितिका कर्णकुण्डल भी छीन लिया है और अब ऐरावतको भी छीनना चाहता है, इन्द्र सचिन्त थे और अपनी चिन्तासे पूर्ण प्रभावित करनेके लिए उन्होंने कन्याओंके हरण और माता अदितिके कुण्डलकी बात जोर देकर कही। भगवान् तो मनको जाननेवाले थे। मुसकरा दिये इन्द्रकी ये बातें सुनकर; और झट तैयार हो गये उस भयंकर किलेबन्दीको ध्वस्त कर नरकासुरसे कन्याओंका उद्धार करनेके लिए। भक्तजन-उद्धारक जो ठहरे!

वीरपत्नी सत्यभामाजी भी अन्तःपुरके पीछेके कपाटसे संलग्न हो सुन रही थीं। वे इनकी तैयारी देखकर झट मचल पड़ीं स्वयं भी साथ-साथ चलनेको। नित्य सहचरी होकर वे

संग्रामके अवसरपर साथ कैसे छोड़ें ? भगवान्की सवारी थे अद्भुत—तीव्रगामी गरुड़। सत्य-मामाजीके साथ उनकी पीठपर भगवान् बैठे और उड़ चले गरुड़जी प्राग्ज्योतिषपुरको ध्वस्त करने—नरकासुरका मानमर्दन करने और जनता-जनार्दनकी रक्षा करने। अस्त्र भी इनका विचित्र था—चक्र ! पता नहीं क्या-क्या खूबियाँ इस अस्त्रमें थीं कि जहाँ चाहें वहाँ इसका प्रयोग करें और सब जगह यह अबाध गतिसे कार्य करे। उधर इन्द्रने इनको उकसाकर स्वयं स्वर्गका रास्ता पकड़ा। इधर गरुड़ पहुंचे प्राग्ज्योतिषपुरके किनारे और श्रीकृष्णने पहुँचते ही अपना चक्र छोड़ा, सारे जाल-पाश टुकड़े-टुकड़े हो गये। यह देखकर मुर दैत्यको क्रोध आ गया, क्योंकि उसका सारा पुरुषार्थ ही क्षणमें मटियामेट हो रहा था। मुर अपने सात हजार पुत्रोंके साथ पहला मोरचा सँम्भालने आ पहुँचा; पर यहाँ तो चक्र हाथमें था। उसके आघातसे क्षणमात्रमें सारेके सारे ढेर हो गये।

अब प्राग्ज्योतिषपुरके भीतर भगवान् पहुंच गये और मुरकी मृत्यु जान भौमासुर अपने सैनिकोंके साथ सामने आया, सत्यमामाजी हँस रही हैं और तबतक भगवान्ने यहाँ भी सबको कतरकर अन्तमें भौमासुरके भी दो टुकड़े कर डाले। इतने ही में भूदेवी भगवान्के सम्मुख आ गयीं। उन्होंने अदितिके कुण्डल वापस देते हुए भगवान्से क्षमा-प्रार्थना की। सत्यमामाजीको कौतूहल हुआ और भगवान् उनको साथ ले नरकासुरके अन्तःपुरमें गये। वहाँ देखा उन बन्दी कन्याओंको, जिनका भविष्य अन्धकारमय था। उस समयकी बात ! कन्याएँ सब राजकुल या देवगन्धर्व-कुलकी थीं, पर अब दूसरेके घर बन्दी रहनेपर उन्हें कौन अपने घरमें स्थान देता ? कन्याओंने अपनी पीड़ा व्यक्त की और उदार-हृदया सत्यमामाने मूक सम्मति प्रदर्शित की, भक्ततापहारी भगवान्ने उनको पत्नीरूपमें ग्रहण कर लिया, वे कृतकृत्य हो गयीं। सहस्रों असहाय कन्याओंका उद्धार ! समाजको चुनौती ! यह भगवान्का ही साहस था।

इधर सारी सामग्री और कन्याओंको नरकासुरके सेवकों द्वारा द्वारका भेजवाकर स्वयं सत्यमामाके साथ वरुणका छत्र और मणिपर्वत-शिखर देनेके लिए श्रीकृष्ण देवलोक आ गये। वहाँ उनका खूब स्वागत-सत्कार हुआ, सभीने पर्याप्त आदर दिया पर यह क्या ? सत्यमामा गम्भीर हो उठीं। इन्द्राणीने अपना शृंगार किया था पारिजातके दिव्य पुष्पोंसे। पर सत्य-मामा भी तो सम्माननीया थीं। क्यों नहीं इन्द्राणीने उन पुष्पोंसे सत्यमामाका सत्कार किया। सत्यमामाको एक ठेस लगी। उन्होंने कहा 'मैं चाहती हूँ कि पारिजात-वृक्ष मेरे आँगनमें द्वारकामें आरोपित हो।' भगवान्ने हँसकर पारिजात उखाड़ा और उसे गरुड़की पीठपर लाद लिया।

मामला गम्भीर हो गया। देवानुचरोंने आपत्ति की 'इसको न लें अन्यथा भयंकर संघर्षकी सम्भावना है' श्रीकृष्ण थोड़ा नरम पड़ रहे थे कि सत्यमामा गरज उठीं। उन्होंने रोषपूर्वक कहा—जब पारिजात समुद्रसे निकला है तो यह सम्पूर्ण लोकोंकी सम्पत्ति है, इसपर शचीका एकाधिकार कैसे ? अबतक यह देवलोकमें रहा अब कुछ कालतक मनुष्य—लोकमें रहेगा। अगर शचीको अपने पतिके शौर्यका अभिमान हो तो जाकर कह दो 'सत्यमामा इसे ले जाती हैं, जो करना हो कर लें।'

अब समस्या सचमुच गम्भीर हो चुकी थी। कोई भी पुरुष पत्नीके ही सामने अपमानित कैसे हो, और इन्द्र तो अभिमानके साक्षात् स्वरूप। यही इन्द्र पृथ्वीका भार दूर करनेके लिए अभी कुछ समय पहले द्वारका गये थे भगवान्से प्रार्थना करने, और अब यही इन्द्र भगवान्को भूलकर उनसे लड़ाईकी तैयारीमें संलग्न हुए सिर्फ स्त्रीको तुष्ट करनेके लिए। उधर भगवान् भी केवल सत्यभामाकी मानतुष्टिके लिए कटिबद्ध हैं पारिजातहरणको! लेकिन सत्यभामाका आग्रह मात्र दुराग्रह हो, ऐसा नहीं, वस्तुतः वे तो इस अभिमानिनी शचीके सामने यह बताना चाहती थीं कि जिसे तुम साधारण समझ रही हो वह साधारण नहीं, तुम जैसोंके ऊपर भी शासन करनेवाला है। सत्यभामाकी दर्पोक्तिको वनरक्षकोंने शचीसे कह दिया और शचीने भी इन्द्रको अंकुश लगाया। इच्छा न रहनेपर भी आखिर इन्द्र बैठ कैसे सकते थे। पौरुषको धक्का जो लग रहा था! देवताओंकी वाहिनीके साथ वे आ गये मैदानमें। छिड़ गया घमासान युद्ध। उधर शची व्यग्रमना हैं और इधर सत्यभामा व्यङ्ग्यपूर्ण मुसकान भर रही हैं। युद्धकी आतुरतामें इन्द्र भूल ही गये कि ये भगवान् हैं और झट उन्होंने चला दिया अपना वज्र। भगवान्ने वज्रको हाथसे पकड़ लिया। इन्द्र शस्त्रहीन हो मैदानसे भाग चले, पर यही तो मौका था ललकारनेका। सत्यभामाने एक व्यङ्ग्यका तीर चला ही तो दिया—'तुम त्रैलोक्यके ईश्वर हो, शचीके पति हो, इस प्रकार तुम्हें युद्धमें पीठ दिखाना उचित नहीं है। शचीको कौन-सा मुँह दिखाओगे, पारिजात-पुष्पाभरणहीन अङ्गसे शची तुम्हारे सम्मुख कैसे आयेंगी?' पतिके पौरुष-प्रदर्शनसे सत्यभामा संतुष्ट हो गयीं। उनका हृदय इन्द्रके प्रति दयार्द्र हो उठा।

उन्होंने तत्काल ही अपना विचार बदला 'पारिजात नन्दनवनमें ही रहे, मुझे कोई आवश्यकता नहीं, भूलोकमें इसका कोई उपयोग नहीं, स्वर्गको ही यह वस्तु है, स्वर्गकी ही शोभा बढ़ावे, मुझे तो शचीके मिथ्याभिमानपर क्षणिक रोष आ गया था। इसलिए इतनी बात बढ़ी।'

और अब स्थिति सामान्य हो चुकी थी। शची अपनी भूलका अनुभव कर रही थी, इन्द्र पश्चात्तापमें तपने लगे और सम्पूर्ण परिजनोंके साथ भगवान्की स्तुति करने लगे। भगवान्ने भी साधारण मानवोंका-सा नाट्य करते हुए अपनी गलतियोंके लिए छमा माँगी इन्द्रसे। इन्द्र लाजसे गड़ गये। अन्तमें शची और इन्द्र दोनोंने पारिजात दे दिया। उनके आग्रहसे पारिजात लाकर भगवान्ने द्वारकापुरीमें सत्यभामाके उद्यानमें उसका आरोपण किया।

●

श्रीराधाकी अप्रमेय महिमा—

महाकवि ग्वालकृत 'राधाष्टक'[1]

★

अथ श्री राधाष्टक लिख्यते :

(१)

नारद विसारदके हारदकी हित सिद्ध, सारद ससीमें जाकी नखदुति भासनी.
शेस सनकाद अविवाद गुननाद गामें, सिबकी समाध हिय कमल विकासनी।
'ग्वाल कवि' क्रष्न महाराजके सुखोंके साज, ताकी सिरताज रही राजरूप रासनी,
बिधि हू की बाधा हरे विष्णु हू अराधा करें, करुना अगाधा राधा व्रन्दावन बासनी॥

(२)

राधा महारानी मनमन्दिर बिराजमान, मुकर मयंकसे जहाँ जड़ावकारी में,
बादले वनावके बिछौना विछे बेसुमार, बीजुरी बिरी बनाय देत बलिहारी में।
'ग्वाल कवि' सुमन सुगन्धिनके सार लै लै, सची सुकुमार सो सुंघावै सोभ भारी में,
दारा देवतानकी दिमाकदार दिसि-दिसि, द्वार-द्वार दौरी फिरैं खिजमतदारी में॥

(३)

मानिक तैं, मोतिन तैं, मण्डित मुकेसन तैं, म्रदु मसनन्द ताकी उपमा किलैं नहीं,
तापर बिराजमान राधा महा महारानी, तहाँ सुरतिय तुंग दौरत ढिलैं नहीं।
'ग्वाल कवि' कहैं चौंर चन्द-रानी लियैं फिरैं, सूरजानी छत्र लै पिछारी तैं हिलैं नहीं,
चौमुखा कहा है जहाँ सौमुखा सहसमुखा, लाख मुखा बिधि हूको मुजरा मिलैं नहीं॥

---

१. महाकवि ग्वालका समय विक्रम संवत १८५९ से लेकर १९२५ तक है। आदरणीय डॉक्टर पचौरीजीने इनके दो अष्टक प्रकाशनार्थ भेजे हैं, राधाष्टक और कृष्णाष्टक। राधाष्टकमें व्रजभाषाके छन्द हैं और कृष्णाष्टकमें उर्दूके। ग्वालने टौंक रियासतके नरेश (नवाब साहब) को, जो महान् कृष्णभक्त थे, सुनानेके लिए ये छन्द लिखे थे, इनमें से राधाष्टक यहाँ प्रस्तुत है।—संपादक

(४)

चंदन कपूर पूर अगर मसाले करि, पानिककी गच खुस धोय खगती रहैं,
हीरन हजारन सिलानकी दिवालें दीह, तामैं प्रतिबिम्बनकी रासि लगती रहैं।
'ग्वाल कवि' पन्ननके खम्भे नीलमनि छत्र, मत्त गज मोतिनकी प्रभा पगती रहैं,
जग जोति जाहर जवाहर जलूसनमें, राधा जगदीसुरीकी जोत्ति जगती रहैं॥

(५)

सेस औ दिनेस, तारकेस, अलकेस बेस सहित सुरेस आगैं दौर मैं ढल्यौ करैं,
बिधि बिधि बेदन सौं बिरद सुनामैं बिधि, अपछरा अनंत नाच नाच उछल्यौ करैं।
'ग्वाल कवि' चौंर, छत्र, पानदान, पान लै लै, गोपिनके गोरे जूथ जूथ सौं रल्यौ करैं,
तैंतीस करोर देवतानी सोभसानी सदा, राधा महारानीकी जलेब मैं चल्यौ करैं॥

(६)

दाधिका दरिद दुःख दीरघ दलन कीने, दासन पै, दीनन पै, दया है अगाधिका,
आधिका न खोज जाके नाम ओज आगैं कऊँ, रोज करि भागैं जमराजके उपाधिका।
साधिका सकल सुख कान्ह प्रान प्रानिका है, 'ग्वाल कवि' कहै संभु जाहीके समाधिका,
बाधिका बिबिध बिधि बाधा बिबुधान की सुब्रन्दावन बिदित बिलासिनी श्री राधिका॥

(७)

रामा अभिरामा बिष्नु बामा बाम बामा स्यामा, कामा अनुसार रूप नामा बहु धारनी,
गंगा गिरा जमुना मैं भ्रमु ना बिचारौ कोऊ, तिनहींके तेजकी त्रिधार है प्रचारनी।
'ग्वाल कवि' माया, मोहमाया, महामाया मंजु, गायो करैं वेद आदिसक्ति जग कारनी,
ईशकी अराधारूप कान्ह प्रान साधा वही, राधा महारानी ब्रन्दाविपिन बिहारनी॥

(८)

नागनकी, नरनकी बाधा हरैं ब्रन्दारक, द्वन्दारक बाधा हरैं बासव बिधानी हैं,
बासवकी बाधा, बिधि बिधिकी बिरोध भरी, बाधत रहत बिधि बेदके बखानी हैं।
'ग्वाल कवि' कहत बिबिध बाधा बिधि हू की, नासत रहत सदा शंभु गुरुयानी हैं,
शंभु हू की बाधा, आधा पलमें मिटा मैं क्रष्न, क्रष्न हू की बाधा हरैं राधा महारानी हैं॥

इति श्री राधाष्टक संपूर्नः। शुभमस्तु।

२ अक्टूबरको आनेवाली गांधी जयन्तीके उपलक्ष्में

भगवान् मोहन और कर्मवीर मोहन

साहित्यमार्तण्ड डॉ० लक्ष्मीनारायण दुवे

★

हमारे भारतीय कवियोंने भगवान् श्रीकृष्ण तथा महात्मा गांधीमें विपुल साम्यकी भाव-भूमियाँ पायी हैं। वे प्राचीन मोहन थे तो ये आधुनिक मोहन। डा० कृष्णलाल 'हंस'ने लिखा है—

बोल उसके थे कि सुरतरु सुमन थे, सिञ्चित सुधासे,
या कि मोहन-मुरलिकाके स्वर विमोहन शान्ति-दासे।

गांधीजीका व्यक्तित्व सामञ्जस्यवादी रहा है—

राम-सा तू पतित पावन जनक-सा था विश्व-भोगी,
पार्थ-सा तू वीर-पुंगव, कृष्ण-सा था कर्मयोगी।

डा० कमलाकान्त पाठकका कवि कहता है—

'गीता'-'रामायण'का भारत,
'गांधी'का भारत कहलाया,
विश्रृङ्खलित भारतने अपने
खोये ऐक्य-साम्यको पाया।

गणेशदत्त शर्मा 'इन्द्र' फिर मोहनकी याद करते हैं—

मोहन अमर, गांधी अमर, बापू अमर मृत्युञ्जयी।
त्याग पार्थिव देहको अब हो गये तुम चिन्मयी॥

जवाहरलाल 'तरुण' गांधीजीमें कृष्णका रूपक चरितार्थ करते हैं—

मोहनकी वंशी गूँजी, जागा सोया जन-जीवन,
नटवरकी तालोंपर नाचा अखिल विश्व-वृन्दावन,
किन्तु अचानक छलिया तुम छिप गये कहाँ मनमोहन,
प्यासी धरती, अरे अभी भी प्यासा है वृन्दावन।

'गीता'के कर्मवादको झलकनलाल वर्मा 'छैल'ने प्रस्तुत किया है—

कर्मक्षेत्रमें 'कर्म करो'का महामन्त्र तुमने उच्चारा,
बही वर्तमानीय घड़ीमें उस अतीत गंगाकी धारा।

डॉ० राजेश्वर गुरु गांधीजीके साथ कृष्णका भी पुण्य स्मरण करते हैं—

कृष्ण, तुम्हारी कुरुक्षेत्रकी मोहन-गीता अमर रहे,
आज चले तुम किसी वधिकका जहर बुझा शर-चाप हँसा।

लखनलाल गुप्त महत्त्वांकन करते हैं—

कृष्ण-जन्मके स्थान बन गये कारागार एक क्षणमें।
देश-धर्म पर प्राण गँवाना हमें सिखाया गान्धीने।

श्रीकृष्ण अग्रवाल 'शैल' ने गांधीजीको गीताका उन्नायक माना है—

तभी कृष्णकी गीता जगमें गूँज उठी फिर एक बार।
बिखर रहे हैं चरणोंमें मेरी श्रद्धाके पुष्प-हार।

हरिकृष्ण 'प्रेमी' अन्धकारके पग रोकनेकी बात कहते हैं—

जैसे मोहनने
अंगुलिपर गोवर्धन रखकर
दूर किया अभिमान इन्द्रका
उसी प्रकार गांधीने
हिंसाको था किया पराजित।

श्यामसुन्दर बादल अमर शहीदकी याद करते हैं—

महाशहीद अमर तू ही है,
दुनिया नित मरती रहती है।
गीताके गायककी आत्मा,
सदा अभेद्य रहा करती है।

प्रभुदयाल गोस्वामीने तो 'गांधी-गीता'की रचना ही कर डाली है।

मनुज मनुजके धर्म विविध हैं, नहीं बलात बदल सकते।
कहाँ ढूँढ़ते हो ईश्वरको वह हर प्राणीमें बसते॥
आध्यात्मिक अनुभव की गहरायी विचारसे गहरी है।
जो अन्तः की सुने नहीं वह देह कानकी बहरी है॥
कर्मयोगसे ही ईश्वरका पूजन दिव्य विचारा रे।
जनताके अर्जुनको मोहन फिर तुमने ललकारा रे॥

प्राचीन मोहन तथा आधुनिक मोहनकी मार्मिक तुलना करते हुए विद्वान्ने लिखा है—

'गीताके कृष्ण और गीताके उपासक बापूके जीवनमें काफी समानता है। कृष्णको राजसूय यज्ञमें जूठी पत्तलें उठाते हम देखते हैं और उसी यज्ञमें बड़े-बड़े सम्राटोंकी वन्दना स्वीकार करते भी देखते हैं। बापूको एक दिन पाखाना साफ करते देखते हैं, तो दूसरे दिन वाइसरायसे महत्त्वपूर्ण बातें करते पाते हैं। कृष्ण पाण्डवोंके प्रतितिधि बनकर कौरवोंसे सन्धि

करने जाते हैं और फिर अर्जुनका रथ चलाते हैं। बापू कांग्रेसके एकमात्र प्रतिनिधि होकर गोलमेज परिषद्में जाते हैं और लौट चरखा चलानेमें लग जाते हैं। कृष्णकी प्रेरणापर सारा महाभारत लड़ा गया, पर उन्होंने हथियार तक न उठाया। कांग्रेस बापूके इशारेपर चलती थी पर वे उसके चार आना सदस्य भी नहीं रहे। कृष्णके जीवनमें राजनीति व धर्मनीतिका अद्भुत मेल है। वैसा ही बापूमें भी है। दोनोंके लिए जेल कोई नयी वस्तु नहीं। एकने यमुना किनारे मथुरामें जन्म लेकर सौराष्ट्रमें अपनी इहलीला समाप्त की, दूसरेने सौराष्ट्रमें जन्म लेकर यमुना किनारे दिल्लीमें अपना देह त्यागा।'

दोनोंकी पद्यमयी तुलना लक्ष्मीप्रसाद 'रमा'ने की है—

> वृन्दावनकी कुञ्जगलिनमें, उधर सखों सँग खेला खेल।
> इधर संग नेताओंको ले, जाय विराजे ये तुम 'जेल'॥
> उधर बाँसुरी बजा आपने, मोह लिये थे तीनों लोक।
> इधर स्वीय भाषणके द्वारा किया राष्ट्रोंमें आलोक॥

उनका एक तुलना-प्रधान दोहा और भी है—

> 'मोहन' तेरे चरित पर, मोहन थे लवलीन।
> उनकी द्वापरमें बजी, तेरी कलिमें बीन॥

जगदीशचन्द्र शर्माने बापूको सदा बहार रश्मि माना है—

> क्रान्ति-रश्मिने किया पदार्पण,
> पतझरका परिहार हो गया।
> गीताके निर्झर बह निकले,
> ऋतुपतिका शृङ्गार हो गया॥

रामेश्वर दयाल दुबेका व्यक्तित्व-विश्लेषण है—

> उनके निकट सत्य था ईश्वर और अहिंसा साधन।
> उनका धन गीता-सा धन था, मन गंगा-सा पावन।

एक भोजपुरी लोकगीतमें श्रीकृष्ण तथा बापूमें काफी समानता बतायी है—

> कृस्न कन्हइयाके जेहलमें जनमवा,
> गांधीके चरखे जेहलवा, सियारामसे बनी।
> कृस्न कन्हइयाके मुरली मंजूरी भइल,
> गांधीके चरखा मस्ताना, सियारामसे बनी।

एक बुन्देली लोकगीत भी राम तथा कृष्णकी समानता गान्धीजीसे मानता है—

> ऐसो लोगी न देखो यार
> जैसो भयो कलयुगमें गांधी

गांधीके हो गये नाम
जैसे भये राम-कृष्णके।

रामकुमार 'कृषक' कहते हैं कि शताब्दीको देखना हो तो यहाँ देखो :

तुमने,
देखा था गांधी को?
क्या था उसके पास?
गीता और लाठी,
जी हाँ, गीता और लाठी।
गांधी को देखना हो, तो इन्हीं दोनोंमें देखो!

राजेन्द्र 'व्यथित' सचमुचमें व्यथित हैं :

कब तक इन्सान
इन्सानके हाथोंका खिलौना बना रहेगा
तुम्हारी गीतापर कब लोग ईमान लायेंगे।

संस्कृत-कवि वे० राघव कहते हैं :

एष गांधीव देशेऽस्मिन्नार्षे पुण्येऽपि भारते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

स्वयं गांधीजीपर भी गाथा तथा गीता लिखी जा चुकी है जिनमें डॉ० बलदेवप्रसाद मिश्र तथा निरंकारदेव 'सेवक' के नाम प्रसिद्ध हैं। डॉ० मिश्रकी 'गांधी-गाथा' गांधी-शताब्दी-समारोहके शुभावसर (२ अक्तूबर, सन् १९६९) पर प्रकाशित हुई थी। इसमें संकल्प, साधना, सेवा तथा संसिद्धि नामक चार परिच्छेद हैं। इस काव्य-ग्रन्थका समापन इस छन्दसे होता है :

हम विश्वासी जीव, हमें इतना है निश्चय,
भूलेगा भगवान न सन्तोंका यह आलय।
चल भी सकती सभी समयकी ऐसी आंधी।
ला भी सकती एक नया फिर कोई गांधी॥

निरंकारदेव 'सेवक' ने 'गांधी-ज्ञान-गीता' का सृजन किया है। इसे ही 'बापू-वाणी' कहते हैं। जैसे गांधीजीका 'गीता-बोध' 'अनासक्ति-योग' कहलाता है। 'महाभारतके समरमें जिस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने 'गीता'-ज्ञान दिया, उसी प्रकार भारतीय राष्ट्रिय आन्दोलनके युगमें गान्धीजीने जो विचार-सरणियाँ दी थीं, उन्हें इस पुस्तिकामें काव्य-बद्ध किया गया है।

भगवान् श्रीकृष्ण, श्रीमद्भगवद्-गीता तथा गांधीजी भारतीय संस्कृतिके शाश्वत स्तम्भ रहे हैं और रहेंगे।

•

आवो हे बलवीर !

— 'राम' —

भारत पर है पुनः छा गयी अतिशय विषम भूरि भव भीर,
सारथि नहीं, रथी बनकर तुम सत्वर आवो हे बलवीर !
हिल जाये तब शंखनाद सुन उन्मद असुरोंका आसन।
पाकासुर सिर उठा रहा मधुसूदन ! बनो पाकशासन ॥

जगा जनार्दन ! दो जन-जनमें वह अनन्त विक्रम पुरुषार्थ
समराङ्गणमें आर्यदेशका शिशु भी बने विजेता पार्थ।
फटता हिया याहियाँ खाँ की सुनकर वह करनी विकराल,
चुप बैठे क्यों नन्दलाल ! तुम केशी-कालयवनके काल ! ॥

दानवताके अट्टहास पर मानवताका महाविनाश,
बंद करो हे कंस-निकंदन ! मिट जाये जगतीका त्रास।
सुख ही सुख सर्वत्र सुलभ हो, रहे क्लेशका कहीं न लेश,
बने तुम्हारी क्रीड़ाका स्थल उत्पीडित वह बँगला-देश ॥

विजयी हो मुजीब जीवनमें वीर-व्रती नेता संमान्य
सस्य-श्यामला वंगधरा फिर प्रमुदित हो पाकर धन-धान्य।

•

एक वैज्ञानिक-दार्शनिक विश्लेषण

क्या प्रेम विज्ञानकी कसौटी पर कसा जा सकता है ?

श्री आलोक गोस्वामी

★

विज्ञान आजके जीवनपर इतना गहरा एवं व्यापक प्रभाव डाल चुका है कि हम अपने प्रत्येक प्रश्नका उत्तर या समस्याका समाधान उसीके माध्यमसे पानेकी अपेक्षा करने लगे हैं। फलस्वरूप जो बात विज्ञान-सम्मत नहीं दीखती, उसे 'अवैज्ञानिक' ठहराकर तिरस्कृत कर देनेमें भी नहीं हिचकते। किन्तु स्वयं विज्ञान आजतक कितने ही तथ्यों एवं रहस्योंका उद्घाटन नहीं कर पाया। उसका क्षेत्र इतना सीमित और संकुचित है कि उसे ही 'सब कुछ' मान लेनेमें विचारशीलोंको संकोचका अनुभव होता है।

वास्तवमें विज्ञानने जगत्के जिस स्वरूपसे हमें परिचित कराया, वह है मात्र वे गतिशील भौतिक कण, जो काल और स्थानके बीच गणितसम्मत नियमों द्वारा परिचालित होते रहते हैं। फिर वह निर्जीव पदार्थोंके विश्लेषण एवं विवेचनमें जितना स्पष्ट एवं तर्क-संगत है, उतना सजीव प्राणियोंके सम्बन्धमें नहीं। प्रमाणस्वरूप उसीका एक अंग जीव-विज्ञान कितने ही मौलिक प्रश्नोंका समाधान प्रस्तुत करनेमें असमर्थ सिद्ध हुआ है।

उदाहरणार्थ, 'प्रयोजन' के सिद्धान्तका विज्ञान-सम्मत समाधान अभीतक सुलभ नहीं। वैज्ञानिक मतोंका निर्धारण गणित या प्रयोगकी पद्धतिके आधारपर हुआ करता है। इटलीके प्रवासकालमें 'कापरनिकल' नव-अफलातूनी दर्शनसे परिचित हुआ और उसे गणित द्वारा जगत्के रहस्योंका उद्घाटन करनेकी कुंजी हाथ लगी। उक्त दर्शनमें 'पाइथागोरस' के सिद्धान्त-वाले तत्त्व पहलेसे ही विद्यमान थे, जिनसे गणित-पद्धतिको बल मिल गया। 'केपलर' का तो यह दृढ़ मत रहा है कि प्रकृति गणित-सम्मतसे भिन्न कुछ नहीं। 'गैलीलियो' भी प्राकृतिक रहस्यों के उद्घाटनकी कुंजी गणितको ही मानता रहा है। केपलरका तो यहांतक कहना था कि हमारे मस्तिष्ककी रचना ऐसी है कि हम मात्रामूलक वस्तुओंसे भिन्नको पूर्णरूपसे जान ही नहीं सकते। उसके अनुसार गणित-विरोधी विशेषताएँ भी शरीरसे ही सम्बद्ध हैं; किन्तु वे वास्तविक कम हैं। गैलीलियोने कुछ आगे बढ़कर उन्हें शुद्ध काल्पनिक ठहराया और उनका अस्तित्व

अनुभूति-मात्रामें ही सीमित कर दिया, जो वास्तवमें मस्तिष्ककी उपज है। मस्तिष्कके अभावमें सारा जगत् विभिन्न रूपों एवं आकारोंका जमघटमात्र रह जायगा। काल और स्थानके बीच रस, राग, रंग, गन्ध आदिका जो भान हो रहा है, वह मस्तिष्कको ही लेकर है।

मध्यकालीन विचारकोंने प्राकृतिक शक्तियोंको पार्थिव रूप देकर देवालयोंमें आसीन कर दिया और वे वास्तविक माने जाने लगे। कालसम्बन्धी धारणा गैलीलियोकी गणित-सम्मत धारणासे भिन्न समझी जाने लगी। विज्ञानमें कालकी धारणा निरन्तर गतिशील गणित-सम्मत बिन्दुसे सम्बद्ध है। वर्तमानकी कोई निश्चित सीमा अथवा अवधि नहीं। यह अतीत और अस्तित्वहीन भविष्यकी काल्पनिक विभाजक रेखामात्र है। काल-सम्बन्धी धारणाके इस अन्तरका प्रभाव कारण-सम्बन्धी धारणापर भी पड़ा है। किसी प्रक्रियाका कारण उसके द्वारा उपलब्ध परिणामों अथवा निकटवर्ती अतीतमें खोजा जाने लगा। कारणमें कार्यको ढूँढ़ा जाता है। अस्तित्वहीन भविष्यका वर्तमानकी घटनाओंपर कोई प्रभाव नहीं रह गया है।

'बर्टेण्ड रसेल'के अनुसार मनुष्य ऐसे कारणोंकी उपज है, जिन्हें अपने अन्त या उपलब्धका पता पहलेसे नहीं रहता। गणितकी यह विचित्र स्थिति है कि वह किसी कल्पनाको तथ्य-रूपमें स्वीकार किये बिना आगे बढ़ ही नहीं पाता। इसलिए सभी वैज्ञानिक इस बातसे सहमत नहीं जान पड़ते कि प्रकृति अनिवार्यतः गणित-सम्मत है। गणित-सम्मत निष्कर्ष तभी स्वीकार्य हो सकते हैं, जब उनकी पुष्टि प्रयोग द्वारा हो जाय।

'गिल्बर्ट' और 'हार्वे' जैसे वैज्ञानिक भी किसी सीमातक प्रयोगकी आवश्यकता अनुभव करते रहे हैं। किन्तु 'न्यूटन' ने दोनों ही प्रक्रियाओंको मिला दिया। कारण, उसने चित्तका स्थान मस्तिष्कमें ठहराया। फिर भी प्रयोग यंत्रोंके आश्रित हैं और यंत्रोंके सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर बनते जानेकी सम्भावना बनी रहती है, जिनसे उनके द्वारा उपलब्ध परिणामों तकमें अन्तर आ जाता है। यहाँतक कि यदा-कदा अकल्पित परिणामतक सामने आ जाते हैं। कभी-कभी तो यन्त्र वस्तुस्थितिका पता लगानेमें असफल सिद्ध होते हैं और हार मानकर गणितका ही सहारा लेना पड़ जाता है, जो स्वयं अपने उद्गममें ही काल्पनिक है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विज्ञानका यथार्थ पूर्ण न होकर आंशिक है। उसकी परिधि रचनाबोध अर्थात् विश्लेषण तक ही सीमित है, जिसका पृथक् महत्त्व है। आजका दृष्टिकोण वैज्ञानिक आत्मचेतनामात्रका रह गया है, जो वास्तवमें अधिकतर अनुमानपर आश्रित है। जिन विद्युत्-तरंगोंकी आज इतनी अधिक चर्चा है, वे संभावनाओंकी तरंगें भी हो सकती हैं। 'जेम्स जिन्स' के अनुसार जगत् अधिकतर किसी महान् गणितज्ञ विचारकके मनोगत विचारों जैसा लगता है। ऐसी स्थितिमें गणित-सम्मत जगत्से भिन्न जो कुछ है, वह हमारे मस्तिष्ककी उपजमात्र है। इसलिए वह काल्पनिक है। वह भी संभव है कि स्वयं गणित भी हमारे मस्तिष्कके रचना-विधानके ही अनुरूप हो।

भौतिक विज्ञानकी तुलनामें मनोविज्ञान और भी अधिक अस्पष्ट एवं अधूरा है। मनोविज्ञानका निकट सम्बन्ध अधिकतर मानसिक प्रक्रियाओं और उनकी व्यावहारिक यांत्रिकतासे

हैं। मनोविश्लेषण उन प्रारम्भिक धारणाओंसे हमें परिचित कराता है, जिनमें यांत्रिकताका अभाव-सा है और जो अस्पष्ट एवं अनिश्चित होनेके कारण वैज्ञानिक कहलाने योग्य नहीं हैं। 'फ्रायड' के 'लिबिडो'-सिद्धान्त द्वारा सभी समस्याओंका समाधान नहीं हो पाता।

हमारा अर्जित ज्ञान भी दो प्रकारका होता है : १. सीधा तथा २. निष्कर्षस्वरूप। प्रकृतिका ज्ञान निष्कर्ष द्वारा होता है तो आत्मज्ञान सीधा। अणु-परमाणुकी गतिमें स्वेच्छाका भी किंचित् स्थान है। इस प्रकार नियतिवादका सिद्धान्त टिकता नहीं दिखायी देता। 'एडिंगटन' और 'शाडिजर' के मतानुसार अब हमें इससे मुक्त हो जाना पड़ेगा। वास्तवमें विज्ञान भी दर्शनकी भाँति सत्यकी खोजमें सतत यत्नशील है, जिसका सीमा-निर्धारण संभव नहीं। इस सन्दर्भमें भारतीय मनीषाका नेति-नेति स्मरण हो आता है।

प्रेम करना प्राणिमात्रका स्वभाव है और उसकी सीमा अपनेसे लेकर विजातीय जीव-जन्तुओंतक विस्तृत है। किन्तु जहाँतक मानव-समाजके बीच प्रेमके प्रादुर्भावका प्रश्न है, वह कभी-कभी वासनाकी सीमाको भी आक्रान्त कर देता है। वैसी दशामें नैतिक नियम तथा सामाजिक मर्यादा जैसे कृत्रिम अनुशासन हमारे मार्गमें आ जाते हैं और हम आत्म-सम्मानकी भावनाका नियंत्रण भी स्वीकार करने लग जाते हैं। फिर भी प्रेमकी स्वाभाविकताका प्रबल आवेग कभी-कभी सीमोल्लंघन कर फूट पड़ता है। ऐसे ही अवसरपर धर्म-भावना काम देती है और उक्त आवेगको नया मोड़ देना संभव हो पाता है, जिसे 'प्रेमकी पवित्रता' का नाम दिया जा सकता है।

दीर्घकालीन अनुभवके बाद मनुष्यने प्रेम और वासनाका सामंजस्य दाम्पत्य-प्रेममें पाया है। दाम्पत्य-प्रेमकी पवित्रताका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि वासनाका अवसान होनेपर भी प्रेम बढ़ता ही जाता है, घटता नहीं। जहाँ घटता दिखायी देता है, वहाँ कारण कुछ और ही हो सकता है।

लेकिन जब प्रेम पारिवारिक सीमाका उल्लंघन कर सामाजिक सेवा अथवा मानवीय प्रेमका रूप धारण कर लेता है, तो उसमें वासनाके लिए अवसर या अवकाश ही नहीं रह जाता, क्योंकि उसका ध्यान उद्देश्यकी सफलताकी ओर केन्द्रित हो जाता है।

> इन सबसे भिन्न वह स्थिति होती है, जब सारी वृत्तियाँ चिन्मुखी होकर किसी अलौकिक सत्तासे जुड़ जाती हैं। वह दशा विज्ञानके सीमा-क्षेत्रके बाहरकी हो जाती है, क्योंकि वैसी दशामें केवल मनुष्यका शरीरमात्र भौतिक रह जाता है और शेष सब कुछ दिव्य बन जाता है, जिसकी पवित्रता अक्षुण्ण है और जहाँ विज्ञानकी पहुँच नहीं है।

कहा गया है कि 'जिस प्रकार अपनी प्रिया द्वारा आलिंगित पुरुषको न कुछ बाहरका ज्ञान रहता है, न भीतरका, उसी प्रकार यह पुरुष भी प्रज्ञात्मा द्वारा आलिंगित हो जानेपर न कुछ बाहरका विषय जानता है, न भीतरका ही।' यह वह स्थिति है, जब कि सारा विकार

अपने आप धुल जाता हैं। 'सेण्ट बर्नार्ड' की यह उक्ति है कि मेरा मेरापन स्वयं ईश्वर है, जो मेरी सत्ता एवं मेरा उल्लास भी है। मैं जीवित हूँ, किन्तु मैं नहीं मुझमें ईशु ख्रिष्ट जीवित है।' इस स्थितिकी उपलब्धि अहंभावके त्याग द्वारा सुलभ है। 'अंडरहिल' के अनुसार इसे ही सन्तों ने उद्दीप्त मार्ग बतलाया है।'

सूफी कवि 'रूमी' ने एक स्थलपर कहा है: 'तेरी मधुर सत्ताके साथ मिलकर मेरा यह आध्यात्मिक जीवन वैसा ही हो गया है, जैसा मदिराके साथ मिलकर पानी। इसलिए कौन ऐसा है, जो इस मदिरा एवं जलको अलग-अलग कर सकता है या हम लोगोंको एक हो जानेपर पृथक् कर सकता है? अब तू मेरा ही वृहत्तर 'स्वरूप' बन गया है, क्योंकि अब मुझे कोई किसी सीमाके भीतर अवरुद्ध नहीं कर सकता। जब तूने ही मुझे अपनेमें ले लिया, तो क्या अब मेरे द्वारा भी तेरा अपना लिया जाना नहीं कहला सकता? तूने मुझे सदा इसीलिए दृढ़ बनाये रखा है कि मैं भी तुझे सर्वदा अपना जानता रहूँ। अब तेरा प्रेम मेरे भीतर ओत-प्रोत हो चुका है और वह मेरी हड्डी एवं नसों तकमें स्पन्दन करता हुआ मेरे सारे शरीरमें व्याप्त है। मैं तेरे होठोंपर वंशी बनकर विद्यमान हूँ। तेरे वक्षःस्थलपर वीणाकी भाँति पड़ा हुआ हूँ। मेरे अन्दर गहरे स्वर भरो, जिससे मैं उच्छ्‌वसित हो उठूँ। मेरे तारोंको इस प्रकार झंकृत करो कि मेरे आँसू चमकने लगें।' वास्तवमें प्रेमकी यह वह पवित्र स्थिति है, जिसे विज्ञान कभी नहीं छू सकता।

•

वेदान्त की सरलता

आपका 'मैं' क्या है? क्या आपने समझ-बूझकर अपनेको देह माना है?

अच्छा, आइये, एकबार अपने 'मैं' को देहमें से निकाल लीजिये। आपका यह 'मैं' केवल ज्ञान है। न देह, न कर्मी। न भोगी, न योगी। न संसारी, न परिच्छिन्न।

अपने 'मैं' को देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न ब्रह्म समझ लीजिये, मान लीजिये।

अब आप ब्रह्म हैं। आपकी उम्र, लम्बाई, चौड़ाई या तात्त्विक स्वरूपमें यह प्रचंड क्या है?

आपमें कुछ नहीं है या आप सब कुछ हैं। न कुछ टूटा, न फूटा, न बिगड़ा। उलटी बुद्धि सुलटी हो गयी। भ्रान्ति मिट गयी। सम्पूर्ण प्रपंच और उसमें भासमान देह भी आप ही हैं। परन्तु अब वह 'अहं'रहित जीवन्मुक्त है।

•

ध
न्य
ति
हा
रो
प्रे
म

•

श्री
वियोगी
हरि

पियारे, धन्य तिहारो प्रेम !
साँचेहुँ बिना प्रेम बसुधा पै झूठे नीरस नेम ॥
– २ –
भऱ्यौ अगम सागर कहूँ, तहँ खेलति उमँगि हिलोर।
ता सँग झूलति झूलना कोइ नैन-रँगीली कोर॥
– ३ –
मानस मधि झरना झरत इक रस-रस रसिक रसाल।
मधु-समीर-आँगुरिन पै कोइ बिहरत मत्त मराल॥
– ४ –
बिरह-कमल फूल्यौ कहूँ, चहुँ छायो दरस-पराग।
बँध्यो बावरो अलि अधर, तहँ लहत सनेह-सुहाग॥
– ५ –
धरी कहूँ इक आरसी, अति अद्भुत अलख अनूप।
उझकि-उझकि झाँकत कोई तहँ धूप-छाँह कौ रूप॥
– ६ –
अरी प्रेम की पीर ! तू जब मचलित सहज सुभाय।
करि चख-पूतरि तोय कौ तब लाड़ लड़ावत आय॥
– ७ –
उठी उमँगि घन-घटा कहुँ, पै रही हियें घुमराय।
परति फुही अँखियान में, यह कैसी प्रेम-बलाय॥
– ८ –
कहा कहौं वा नगर की, कछु रीति कही नहिं जाय।
हेरत हिय-हीरा गयौ यह हेरनि हाय ! हिराय॥
– ९ –
इक मरजीवा मरमी बिना 'हरि' मरम न समुझै कोय।
हिलग-तीर की पीर बिनु कोइ कैसें मरमी होय॥

एक ऐतिहासिक विवेचन

पुष्टिमार्गीय संगीतज्ञ भक्त राजा आसकरन

डा० शुकदेव दुबे
एम० ए०, पी० एच० डी०

ग्वालियरसे ५० मील दक्षिण-पश्चिम और शिवपुरीसे २० मील उत्तर-पूर्व आगरा-बम्बई-मार्गपर विद्यमान सतनवाड़ासे १६ मील दूर नरवरगढ़ स्थित है। कई मध्यकालीन शिलालेखों, स्तंभ-लेखों आदिमें इसे नलपुर बताया गया है और जनश्रुतिके अनुसार यह स्थान राजा नलसे सम्बद्ध है। कहा जाता है कि जब राजा नल नरवरका किला छोड़कर जाने लगे, तब किलेके दुल्हा-द्वारके कंगूरोंकी एक पंक्ति राजाके सम्मानमें झुक गयी, जो आज तक उसी दशामें है। इससे संबद्ध एक किवदन्ती यह है कि कई शताब्दियाँ बीत गयीं, एकबार दुश्मनों द्वारा किला घेर लिया गया। राजा सामनेकी पहाड़ीपर स्थित अपने मित्रोंको तनी रस्सीद्वारा पत्र भेजकर इसकी सूचना देना चाहते थे, जो बहुत ही बीहड़ कार्य था। ऐसा करनेवालेके लिए राजाने आधा राज्य पुरस्कारमें देनेकी घोषणा कर दी। एक नटनीने इस कार्यको हाथमें लिया। कठिन श्रमके बाद वहाँ पत्र पहुँचाकर नटनी वापस आ रही थी कि राजाके एक सरदारने राजाकी नीयत खराब कर दी, जिससे राजाने रस्सी काट दी और नटनी गिरकर चूर-चूर हो गयी। कहा जाता है कि तबसे कोई नटनी नरवरसे होकर नहीं गुजरती। जहाँ गिरकर नटनीके मरनेकी बात कही जाती है, वहाँ एक स्मारक बना हुआ है, जिसे 'नटनीकी समाधि' कहते हैं।

नरवरका मनोरम दुर्ग विन्ध्य-श्रेणीपर मैदानसे ४०० फूट और समुद्रकी सतहसे १००० फुटकी ऊँचाईपर खड़ा है। सिन्धुनदी इसके पश्चिम तथा उत्तरसे होकर बहती है, जो अर्धं-परिखा का काम देती है। यह अपने समयका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं अभेद्य दुर्ग माना जाता है।

यों तो नरवरका शृंखलाबद्ध इतिहास मध्यकालसे मिलता है, परन्तु कनिंघमने नरवर-का वर्णन करते समय इसे नागवंशी राजाओंकी विख्यात राजधानी 'पद्मावती' बताया है। इसकी पुष्टिमें नागवंशके अन्तिम राजा गणपतिके कुछ सिक्कोंके अतिरिक्त और कोई प्रमाण

उपलब्ध नहीं हुआ है। समुद्रगुप्तके इलाहाबादके शिलालेखके अनुसार समुद्रगुप्तने गणपतिको परास्त किया था। स्मिथका मत है कि महोबा-खंडके ९वीं शतीके शासक गहड़वार राजपूत राजा नलके वंशज थे और वे नलपुर (ग्वालियरके निकटस्थ नरवर) से काशी आये थे।

नरवरका इतिहास सदा ग्वालियरके इतिहाससे सम्बद्ध रहा है। यहाँ समय-समयपर राजपूतों एवं मुसलमानोंका शासन रहा है। इसका इतिहास यहींसे मिलता है कि दसवीं शतीके अन्तमें व्रजदामन कछवाहाने इसे कन्नौजके प्रतिहारोंसे अपने कब्जेमें कर लिया। किन्तु प्रतिहारोंकी एक अन्य शाखाने सन् ११२९ ई० में धोखेसे इन्हें यहाँसे निकाल भगाया और १२३४ ई० तक यह उनके अधिकारमें रहा। सन् १२३४ ई० में अल्तमश द्वारा ग्वालियरसे भगाये जानेपर प्रतिहारोंने नरवरमें ही शरण ली थी।

इस बीच चहाददेव नामक एक शक्तिशाली व्यक्ति हुआ, जिसने सन् १२५१ में नरवर (प्राचीन नलपुर) के जाजपेल्ला अथवा यज्वपाल वंशकी स्थापना की। चहाददेव उस क्षेत्रका सबसे बड़ा रईस था। उसकी सेनामें ५००० घुड़सवार और २,००,००० पैदल सिपाही थे। उसने ग्वालियरपर चढ़ाई करनेवाले मुसलमानोंके विरुद्ध युद्ध-संचालन किया। वह इतना शक्तिशाली था कि उसका मुकाबला करनेके लिए रजियाको तैमूर खाँके अधीन दिल्लीसे एक टुकड़ी भेजनी पड़ी थी, पर उसका प्रभाव कुछ नहीं पड़ा। अब जाजपेल्ला अत्यन्त शक्तिशाली हो गये, परन्तु सन् १२५८ में बलबनने ग्वालियर जीत लिया और उसे मलिक नासिरुद्दीनके प्रभारमें रख छोड़ा। चहाददेवको भी नासिरुद्दीनके समक्ष आत्मसमर्पण करना पड़ा, परन्तु उसकी अधीनता स्वीकार करनेके बाद भी वे स्वतंत्र रूपसे शासन करते रहे। चन्देल-शासक त्रैलोक्यवर्मनके पुत्र और उत्तराधिकारी वीरवर्मन (सन् १२५०–१२८६ ई०) ने नलपुरपति यज्वपालवंशी गोपालपर चढ़ाई की और नरवरपर विजय प्राप्त कर ली। गोपालके कई शिलालेख नरवर-दुर्गपर तथा कई स्तंभ-लेख नरवर-दुर्गके निकटस्थ 'बंगला' नामक गाँवमें पाये गये हैं। ये स्तंभ-लेख उन वीरोंकी स्मृतिमें हैं, जिन्होंने चन्देल-राजा वीरवर्मनके विरुद्ध गोपालकी तरफसे लड़ते हुए अपने प्राण गँवाये थे। दाही-अभिलेखसे भी ज्ञात होता है कि वीरवर्मनके राज्यकी एक सीमापर नरवर था।

वीरवर्मनका नरवरके शासकोंसे संबंध भी था। उसकी पत्नी कल्याणदेवी दधीचि वंशके महेश्वरकी पुत्री थी और महेश्वरकी माँ वेसलदेवी राजा गोविन्द (कनिंघमके अनुसार नरवरके राजा गोविन्द) की पुत्री थी।

नरवरसे प्राप्त सिक्कों तथा शिलालेखोंसे ज्ञात होता है कि चहाददेवके बाद जाजपेल्ला-वंशमें चार राजा हुए, जिनमेंसे अन्तिम शासक गणपति था, जिससे सन् १२९८ ई० में दिल्लीके बादशाह अलाउद्दीन खिलजीने नरवर जीता। इसके बाद चौदहवीं शतीतक नरवर दिल्लीके बादशाहोंके अधीन रहा।

सन् १३९८ में नरवर तंवर-राजपूतोंके हाथमें आ गया और १५०६ ई० तक उनके अधीन रहा। बीचमें सन् १४३८ ई० में ग्वालियरके शासक डूंगरसिंहने नरवरपर आक्रमण कर तंवरोंको थोड़े कालके लिए अपदस्थ कर दिया था। उस समय मालवाके सुलतान महमूद प्रथम थे।

किलेसे एक मील दूरस्थित जैत-स्तंभपर तंवर-राजाओंकी वंशावली अंकित है। यह स्तंभ शायद मांडू-नरेशोंपर विजय प्राप्त करनेके स्मारकके रूपमें गाड़ा गया हो। नरवरके किलेमें 'शत्रु-संहार' और 'फतेह-जंग' नामक दो बंदूकें हैं, जिनमें से एकपर सन् १६९६ का एक लेख है कि १५वीं शतीमें जयपुरके सवाई जयसिंह नरवरके शासक थे। यहाँ लगभग ३२ तोपें हैं और कई इधर-उधर दबी पड़ी हैं।

सन् १५०६ में दिल्लीके सुलतान सिकन्दर लोदीने नरवरपर चढ़ाई की और १२ महीनेके घेरेके बाद उसपर कब्जा कर लिया। वह यहाँ सन् १५०८ तक रहा। इस बीच उसने यहाँके मंदिरों को नष्टकर उनकी सामग्रीसे मसजिदें बनवायीं। अन्तमें उसने जागीरदारके रूपमें शासन करनेके लिए किला राजसिंह कछवाहाको दे दिया। इस प्रकार किला फिर कछवाहोंके हाथमें आ गया। अकबरके शासन-कालमें यह किला आगरा सूबेके नरवर-सरकारका मुख्यालय था। अबुल फजलने लिखा है कि किलेके एक भागमें हिन्दू-मंदिर हैं। यहाँके वनोंमें हाथियोंके झुण्ड पाये जाते हैं। दक्षिण जानेके मार्गमें पड़नेके कारण अकबर कईबार इस रास्तेसे गुजरा था।

अकबरके समयमें नरवरके शासक राजा आसकरन थे। नाभाजीकृत 'भक्तमाल'में इन्हें कछवाहा-राजा पृथ्वीराजके वंशमें राजा भीमसिंहका पुत्र, रामानंदी संत कील्हदेवका शिष्य तथा धर्मात्मा, सद्गुणी, परम भागवत, राजर्षि, सदाचारी, चतुर, उदार और भक्त-जन बताया गया है। उल्लेख है कि पद-रचनाके रूपमें इनकी विमल वाणी भक्तिभावसे ओत-प्रोत है। 'शिवसिंह सरोज'में इनका जन्म १५५८ ई० और 'मिश्र-बन्धु-विनोद'में इनका रचना-काल १५४९ ई० तथा इनके पिताका नाम भीमसिंह दिया गया है। किन्तु इतिहाससे ज्ञात होता है कि ये भीमसिंहके पुत्र नहीं, पौत्र थे और इनके पिताका नाम रत्नसिंह था, जो राजस्थानके आमेर-नरेश राजा भीमसिंहके ज्येष्ठ पुत्र थे। इस प्रकार मूलतः ये आमेरकी गद्दीसे संबद्ध होकर नरवरगढ़में गोदमें आये थे। सन् १५४७ में कुछ दिनोंतक ये आमेरकी गद्दीपर बैठे भी थे, परन्तु भीमसिंहके अनुज बिहारीमल (भारमल्ल) ने इन्हें गद्दीसे हटाकर स्वयंको राजा घोषित किया था। उसके बाद आसकरन नरवरगढ़-नरेशके दत्तकरूपमें नरवरके राजा हुए थे। इनका जन्म-काल सन् १५२३ और मृत्युकाल लगभग १५८९ ई० अनुमानित है।

इनके चाचा बिहारीमल अकबरके दरबारमें सम्मिलित हुए थे। वे ऐसे प्रथम राजपूत थे। उसके बाद राजा आसकरन भी अकबरके दरबारमें आ गये। इन्होंने सम्राट् अकबरके पक्षमें अनेक युद्ध किये। सन् १५८६ ई० में ये शेख इब्राहीमके साथ आगरा सूबाके प्रशासक बनाये गये थे। सम्राट् अकबरके पक्षमें इन्होंने अपना अन्तिम युद्ध ओरछा-नरेश राजा मधुकर शाहके विरुद्ध सन् १५८८ में किया था और कुछ समय बाद ही, संभवतः सन् १५८९ में इनका देहान्त हो गया। देहान्तके समय संभवतः ये ग्वालियर-किलेके गवर्नर भी थे। इनके पुत्रका नाम राजसिंह था। उसे भी सम्राट् अकबरने राजाकी पदवी प्रदान की थी।

राजा आसकरन एक विख्यात वीरयोद्धा होनेके साथ एक भावुक भक्तकवि और सुप्रसिद्ध संगीतज्ञ भी थे। इन्होंने अष्टछापके संगीताचार्य भक्त गोविन्दस्वामीसे 'विष्णु-पद'-गायनकी शिक्षा पायी थी तथा संगीत-कलाके प्रेमी और मर्मज्ञ बन गये। ये उदारतापूर्वक संगीतज्ञोंका आदर-सत्कार किया करते। इनकी संगीत-विषयक गुण-ग्राहकताकी ख्याति सुनकर दूर-दूरसे बड़े-बड़े गायक इनके दरबारमें अपनी कलाके प्रदर्शनार्थ आया करते। सम्राट् अकबरके दरबारी गायक संगीत-सम्राट् तानसेन भी एकबार संभवतः १५८२ ई० में इनके दरबारमें उपस्थित हुए और उन्होंने गोविन्दस्वामी-रचित निम्नलिखित पद सारंग रागमें गाया था :

कुंवर बैठे प्यारी संग, अंग-अंग भरे रंग,
बलि बलि बलि बलि त्रिभंगी, जुवतिन सुखदाई।
ललित गति, विलास-हास, दम्पति मन अति हुलास,
विगलित कच-सुमन वास, स्फुटित कुसुमनिकर, तैसिये सरदरैनि जुन्हाई।
नव निकुञ्ज, मधुपगुंज, कोकिल कल कूजत पुंज,
सीतल सुगंध मंद पवन अति सुहाई।
गोविन्द प्रभु सरस जोरी, नव-किसोर नव-किसोरी,
निरख मदन-फौज मोरी, छैल छबीले नवल कुंवर, ब्रजकुल मनिराई॥

इसे सुनकर राजा आसकरन परम आनंदित हुए। उन्होंने इससे पूर्व ऐसा सुन्दर गायन कभी नहीं सुना था। फलस्वरूप इसके लिए तानसेनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की, जिसके उत्तरमें तानसेनने कहा : 'इस प्रशंसाका श्रेय उक्त पदके रचयिता गोविन्दस्वामीको है, जिनसे मैंने यह पद सीखा है।' इस पर राजा आसकरन तानसेनके साथ गोकुल आकर गोविन्दस्वामीसे मिले और उन्हींके प्रभावसे ये गोसाइं विठ्ठलनाथजीके सेवक हो पुष्टिमार्गीय भक्त हो गये। इन्होंने अपने पदमें स्पष्टरूपसे स्वयंको विठ्ठलनाथजीका सेवक बतलाया है :

जै श्रीविठ्ठलनाथ कृपाल।
कलि के महापतित अपराधी, अपुने करिकै किये निहाल॥
पुरुषोतम निज कर लै दीने, ऐसे दानी महादयाल।
"आसकरन" कों अपुनौ करिकै, पुष्टि प्रमेय वचन प्रतिपाल॥

इसकी पुष्टि 'दो सौ बावन वैष्णवनकी वार्ता'से भी होती है। राजा आसकरकी प्रार्थनापर गोसाइंजीने इन्हें सेवाके लिए 'मोहन नागर' की एक प्रतिमा भी दी थी, जिसका उल्लेख कृष्णानन्द रामसागरकृत 'सम्प्रदाय-कल्पद्रुम'में इस प्रकार है :

आसकरन नृप विनय सुनि, विठ्ठलनाथ प्रवीन।
प्रेमभक्ति लखि सिष्य करि, मोहन नागर दीन॥

इसके बाद ये अपना राज-काज देखते हुए सेवा-अर्चना एवं पद-रचना करते रहे। जैसा कि 'भक्तमाल'में उल्लेख है, ये संत कील्हदेवके शिष्य नहीं थे। इसकी पुष्टि इससे भी होती है कि इनके उपलब्ध लगभग ४० पदोंमें एक पदको छोड़कर प्रकारान्तरसे भी किसी पदमें राम-भक्तिकी बातें नहीं मिलतीं। इन्होंने मधुर शैलीमें कृष्णके जागरण, हिंडोला,

दधिमंथन, रास, बियारू, शयन, फाग आदिके पद रचे हैं, जिनमें एक भावुक कृष्ण-भक्त -कविकी आन्तरिक अभिव्यक्तियाँ चित्रित की गयी हैं। इनके थोड़ेसे पदोंमें भी शृंगार, वात्सल्य एवं भक्तिरसके पद उपलब्ध हो जाते हैं। इनकी भाषा वही है, जो आज भी ग्वालियर-नरवरमें बोली जाती है। इनकी संगीत-प्रियताका ही परिणाम है कि पुष्टि-सम्प्रदायकी कीर्तन-पोथियोंमें इनके जो पद मिलते हैं, वे रागबद्ध हैं। इनके प्रत्येक पदमें वल्लभ-सम्प्रदायियोंके ठाकुर 'मोहन नागर' का उल्लेख मिलता है, जो इनके सेव्य-स्वरूप थे।

'गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास'-संस्करणवाले 'दो सौ बावन वैष्णवनकी वार्ता'में इनके १५ पद दिये गये हैं, जिन्हें हरिहरनिवास द्विवेदीने मध्यदेशीय भाषा (ग्वालियरी) के अन्तमें संकलित किया है। इनमें सभी पदोंपर रागोंके नाम दिये हुए हैं। प्रभुदयाल मीतलने भी १६ पद 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'के 'मालवीय-शती विशेषांक'में दिये हैं, जिनमें सभी पद वे ही हैं, केवल एक पद नया है। इनमें से एक पद धमार-शैलीमें, ४ विभास रागमें, ६ केदारा रागमें, २ रामकली रागमें, २ कान्हरो रागमें तथा एक पद गौरी रागमें हैं। डॉ० उषा गुप्तने अपने शोध-प्रबन्ध 'हिन्दीके कृष्णभक्तिकालीन साहित्यमें संगीत'में वल्लभ-सम्प्रदायी कीर्तन-संग्रहोंमें प्रकाशित इनके ३८ पदोंका निम्नलिखित रूपमें राग-विश्लेषण किया है :

राग-नाम	पद-संख्या	राग-नाम	पद-संख्या
१. आसावरी	२	११. देवगंधार	२
२. रामकली	४	१२. जैतश्री	१
३. तोड़ी	२	१३. भैरव	१
४. सारंग	९	१४. विभास	१
५. पूर्वी	२	१५. गौरी	१
६. नायकी	१	१६. कान्हरो	२
७. बिलावल	३	१७. ईमन	१
८. नट	१	१८. केदारो	२
९. विहागरो	१	१९. विहाग	१
१०. मालवा	१		३८

इन्होंने अपने समस्त पदोंमें रस-राग और समय-सिद्धान्तका भलीभाँति पालन किया है। रागोंके नामके साथ ही वाद्य-यंत्रोंका भी उल्लेख किया है, जिससे इनके संगीत-ज्ञानका पता लगता है :

तुम पौढ़ौ हौं सेज बनाऊँ!
चापौं चरन, रहौं पाटी तर, मधुरे सुर केदारो गाऊँ॥
दुन्दुभी बाजै गहगहे, नगर कुलाहल होय।
उमड्यो मानस घोष को, भवन रह्यो नहिं कोय॥
डंफ बांसुरी सुहावनी, ताल मृदंग उपंग।
झांझ झालरी किन्नरी, आवज कर मुखचंग॥

श्रुति, युक्ति और संत-वचनोंके निकषपर

श्री भगवान्‌का अवतार

श्रीकृष्णकिंकर

कुछ लोग कहते हैं कि 'किसी व्यक्तिविशेषमें जब दिव्य गुणोंका समावेश हो जाता है तब उसीको संसार भगवान्‌का अवतार कहने लगता है।' किन्तु यह मत समीचीन नहीं ; क्योंकि 'अवतार' शब्दका अर्थ अवरोहण है, आरोहण नहीं। साधना करते हुए विशेष गुणोंकी प्राप्ति तो आरोहण ही है। फिर वह 'अवतार' शब्दका अर्थ कैसे हो सकता है? वास्तवमें अनन्त-स्वरूप भगवान् अपनी अनन्त शक्तियोंको अपने आपमें छिपाकर जब एक छोटेसे रूपमें प्रकट होता, है तब उसीको 'भगवान्‌का अवतार' कहते हैं और वही 'अवरोहण' शब्दका अर्थ भी है। इसी भावको लेकर महामना तिलकने कहा है :

रहे सर्वत्र व्यापक एक समान, पर निज भक्तोंके लिए छोटा-सा भगवान।

'भगवान्' शब्दके अर्थपर गंभीरतासे विचार करें तो भी यही प्रमाणित होता है कि सर्वशक्तिमान्‌का सगुण-साकार विग्रहमें आविर्भूत होना ही भगवदवतार कहा जा सकता है। भगवान् शब्दका विग्रह है : 'भगेन सह विद्यत इति भगवान्'—अर्थात् 'भग'-नामक छह प्रकारका ऐश्वर्य जिसमें नित्य निवास करे, उसीको भगवान् कहते हैं। १. सम्पूर्ण ऐश्वर्य, २. सम्पूर्ण धर्म, ३. सम्पूर्ण यश, ४. समग्र श्री, ५. समस्त ज्ञान और ६. समस्त वैराग्य—ये ही छह भग नामक ऐश्वर्य हैं। इन्हीं षडैश्वर्योंसे सम्पन्न भगवान्‌का अवतार होता है।

ईश्वरावतारके विषयमें श्रुति भी प्रमाण है।

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।

अर्थात् ईश्वर माया द्वारा अनेक रूपोंको प्राप्त होता है। और भी :

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥

(श्वेताश्व०)

अर्थात् एकमात्र सबको वशमें रखनेवाला, समस्त प्राणियोंका अन्तरात्मा जो अपने एक ही रूपको बहुत प्रकारका कर लेता है, अपने ही अन्तःकरणमें स्थित है, उसे जो धीर पुरुष देखते हैं, उन्हींको अविनाशी सुख मिलता है, दूसरों को नहीं।

यहाँ यह शंका होती है कि भगवान् तो सर्वव्यापक हैं, ऐसी दशामें साकार अवतार ग्रहण करनेसे क्या वे एकदेशीय नहीं हो जायँगे ? इस प्रकार उनकी अनन्तता कट जानेपर वे भगवान् ही कैसे रहेंगे ?

इसका समाधान इस प्रकार है : हमें नेत्रसे जो दिखाई देता है वह रूप कहलाता है। यह रूप अग्निका गुण है तथा गुण और गुणीका समवाय (नित्य) सम्बन्ध होता है। अतः रूप वहीं मिलेगा जहाँ अग्नि होगा। अतएव सिद्ध हुआ कि जो वस्तु हमें आँख से दिखाई देती है, उसमें अग्नि अवश्य है।

अग्निके दो रूप होते हैं : एक सामान्य और दूसरा विशेष। सामान्य अग्नि तो वह है, जो समस्त पार्थिव और जलीय वस्तुओंमें व्याप्त होकर तद्रूप हो जाता है। उसका विशेष रूप वह है, जो दो काष्ठोंके संघर्षसे प्रकट होकर उष्णतासे पूर्ण होता है। उसीसे रोटीका कच्चापन तथा शीत दूर किया जा सकता है।

अब विचार कीजिये कि अग्नि कहीं विशेष रूप को प्राप्त हो गया तो क्या अपने सामान्य रूपमें नहीं रहा ? सभी जानते हैं कि परमात्माकी अपेक्षा अग्निका परिणाम अत्यल्प है। जब एकदेशमें प्रकट होनेसे अत्यल्प अग्नि अपनी व्यापकता नहीं छोड़ता तो अनन्त सच्चिदानन्दघन, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् ईश्वर कहीं सगुण-साकार विग्रहमें आविर्भूत होनेपर एकदेशीय कैसे हो जायगा ?

गोस्वामी तुलसीदासजी लिखते हैं :

एक दारुगत देखिय एकू। पावक युगसम ब्रह्म विवेकू॥

अर्थात् दो प्रकारके अग्निकी तरह ही निर्गुण और सगुण ब्रह्मका विवेक है। जैसे एक अग्नि तो वह है, जो सामान्य रूपसे काष्ठमात्रमें व्याप्त है और दूसरा वह, जो विशेष रूपसे प्रकट दिखाई देता है। इसी प्रकार जो प्रत्येक देश, प्रत्येक काल और प्रत्येक वस्तुमें समान रूपसे व्याप्त है, वह तो निर्गुण ब्रह्म है। किन्तु जो चिन्मयशरीर धारणकर संसारका कल्याण करता है, वह सगुण ब्रह्म है।

यहाँ प्रश्न होता है कि अग्नि तो दो काष्ठोंके संघर्षसे विशेष रूपको प्राप्त हो जाता है, यह ठीक है। किन्तु परमात्माको निराकारसे साकार बनानेवाली कौन-सी वस्तु है ? इसका उत्तर भी गोस्वामी तुलसीदासजीने बड़े युक्तियुक्त और सुन्दर ढंगसे दिया है :

हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम ते प्रकट होहिं मैं जाना॥
अग जग मय सब रहित विरागी। प्रेम ते प्रभु प्रगटहिं जिमि आगी॥
जो गुणरहित सगुण सो कैसे। जल हिम उपल विलग नहिं जैसे॥

तात्पर्य यह कि परमात्मा सर्वत्र है और उसकी मायाशक्ति भी सर्वत्र है। तब अपनी शक्तिको स्वीकार कर वह निर्गुण-निराकार कहीं सगुण-साकार विग्रहमें आविर्भूत हो जाय, तो इसमें क्या अन्तर पड़ता है ?

इसी बातको श्रीमद्भगवद्गीतामें स्वयं भगवान् श्रीमुखसे कहते हैं :

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

अर्थात् मैं अजन्मा, अविनाशी और समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृति (माया) का अंगीकार कर स्वयं अपनी इच्छासे प्रकट होता हूँ।

अब प्रश्न होता है कि भगवान्के अवतार ग्रहण करनेका प्रयोजन क्या है? सीधा-सा उत्तर तो यह है कि इसे तो भगवान् ही जानें, दूसरा कोई निश्चित रूपसे कुछ नहीं कह सकता। भगवान् अनन्त और उनकी शक्तियाँ भी अनन्त हैं। अनन्तका अर्थ है, जो किसी भी पैमानेसे नापा न जा सके। जो नापमें आयेगा वह सान्त ही होगा, अनन्त नहीं। हमारे पास नापनेका पैमाना बुद्धि ही है और चूँकि भगवान् अनन्त हैं, अतः वे बुद्धिसे नापे नहीं जा सकते। गीताका वचन है : **यो बुद्धेः परतस्तु सः** अर्थात् जो बुद्धिसे परे है वही परमात्मा है। यजुर्वेद भी कहता है। **स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता**—वह समस्त ज्ञेयको जानता है, पर उसका जाननेवाला कोई नहीं। ब्राह्मणका भी वचन है : **विज्ञातारमरे केन विजानीयात्** अर्थात् जो सबका जाननेवाला है, उसे कैसे जानें। सुतरां कोई भी व्यक्ति यह कैसे कह सकता है कि भगवान्के अवतारका यही निश्चित कारण है। गोस्वामीजी भी यही कहते हैं :

हरि अवतार हेतु जेहि होई। इदमित्थं कहि जाय न कोई॥

तथापि सन्त, मुनि और शास्त्रोंने भगवदवतारके अनेक कारण बतलाये हैं :

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

तत्त्वकी बात तो यह है कि भगवान् केवल भक्तोंके हैं। जिसके हृदयमें भगवत्-प्रेम है वही भगवानको पहचान सकता है। उन्हीं भक्तोंका प्रेमपूर्ण आग्रह ही भगवान्को निराकारसे साकार बना देता है, जैसा कि तुलसीदासजी ने कहा है :

भक्त हेतु भगवान प्रभु, राम धरेउ तनु भूप।
किये चरित पावन परम, प्राकृत नर अनुरूप॥

भक्तराज विभीषणके प्रति भगवान् राम स्वयं श्रीमुखसे कहते हैं :

तुम सारिखे सन्त प्रिय मोरे। धरौं देह नहिं आन निहोरे॥

इन उद्धरणोंसे सिद्ध है कि भगवान् भक्तोंकी इच्छा पूरी करनेके लिए ही अवतार लेते हैं। भक्त उनको जिस रूपमें देखना चाहता है, उसी रूपमें दर्शन देते हैं। निराकार रहते हुए वे भक्तकी लालसा पूरी नहीं कर सकते, इसलिए सगुण-साकार विग्रहमें आविर्भूत हो जाते हैं।

एकांकी

तन्दुलोंकी करामात !

आचार्य श्री सीताराम चतुर्वेदी

★

प्रथम दृश्य

स्थान : सुदामाकी झोपड़ी ।
समय : तीसरा पहर ।

[टूटे-से आसनपर बैठे सुदामा माला जप रहे हैं। कोनेमें दो-चार फूटे बर्तन पड़े हैं। सुदामाकी पत्नी सुशीलाका हाथमें चावलकी पोटली लिये प्रवेश।]

सुशीला : (सुदामाको बैठे देखकर) वाह जी ! घरमें अन्नका एक दाना नहीं और आप गोमुखीमें हाथ डाले निश्चिन्त होकर बड़-बड़ किये जा रहे हैं।

[सुदामा ध्यानमग्न बैठे रहते हैं। सुशीला पोटली खोलकर चावल बीनती है। सुदामाके दोनों बच्चोंका प्रवेश ।]

अलंकार : माँ ! माँ ! बड़ी भूख लगी है । कुछ खानेको दो ।

सुशीला : (क्रोधसे) कहाँसे लाऊँ ? तुम्हारे पिताजीने अन्नका कुठला भरकर रख दिया है न, कि निकालूँ और तुम्हारे मुँहमें भर दूँ ।

प्रमिला : क्यों माँ ! यह क्या बीन रही हो ? इसीमें से थोड़ा-सा दे दो न ! बड़ी भूख लगी है ।

अलंकार : (रोते हुए) बड़ी भूख लगी है माँ, कुछ तो खानेको दे दो !

सुशीला : (झटकते हुए) हटो मेरे पाससे। सौ बार कह दिया कि मेरे पास खानेको कुछ भी नहीं है, कुछ भी नहीं । फिर भी चिल्लाये चले जा रहे हो ।

[सुशीलासे दोनों बच्चे चिपटकर रोते हैं और पोटलीसे चावल निकालनेको बढ़ते हैं ।]

सुशीला : (झड़कती हुई) तुम दोनों मुझे ही खानेको जनमे हो। जब देखो 'खानेको दो' की रट लगाये रहते हो । कहाँसे लाऊँ मैं ? जाओ, माँगो न अपने पिताजीसे जो दिन-रात गोमुखीमें हाथ डाले 'हरे कृष्ण ! हरे कृष्ण' जपते रहते हैं ।

[प्रमिला तथा अलंकार सुदामाको जाकर झकझोरते हैं और 'भूख लगी है, भूख लगी है' कहकर रोते हैं ।]

सुदामा : (आँखें मलते हुए बच्चोंसे) एँ ! रोते क्यों हो ? फिर झगड़ा किया ? न जाने कितनी बार दोनोंको समझाया कि बेटा झगड़ा न किया करो। पर तुम लोग मेरी सुनोगे ? झगड़ा नहीं करना चाहिए. हूँऽऽ !

प्रमिला : हमें भूख लगी है पिताजी ! कुछ खानेको दीजिये।

सुदामा : अरी अलंकारकी माँ ! क्यों बच्चोंको भूखा मारे डाल रही हो ?

सुशीला : (चिल्लाकर) जी हाँ ! मैं भूखा मारे डाल रही हूँ या आप ?

सुदामा : तो उन्हें कुछ खानेको क्यों नहीं दे डालती ?

सुशीला : क्या खिलाऊँ ? अपना सिर ? आपको तो दिन-रात भजन-पूजन छोड़कर कोई काम-धाम तो है नहीं। मैं मर-मरकर पड़ोसियोंकी चाकरी करूँ और आपके बच्चोंका पेट भी भरूँ ? अब मुझसे इतना सब नहीं होगा।

सुदामा : अरी बावली ! हम लोग ब्राह्मण हैं ब्राह्मण ! ब्राह्मणका काम है तप करना और जो रूखा-सूखा मिल जाय, खाकर सन्तोष करना। ब्राह्मण कहीं पैसा-कौड़ी भी जोड़ते हैं ?

सुशीला : पर मैं पैसा-कौड़ी जोड़नेको कहाँ कहती हूँ। दोनों समय दो मुट्ठी कोदों, साँवा ही मिल जाया करता, तो अपना भाग्य सराहती। पर उसके भी तो लच्छन नहीं हैं।

[बच्चोंको थोड़ा-थोड़ा चावल खानेको देती है। वे एक ओर बैठकर चावल फाँकते हैं।]

सुशीला : आप ही सोचिये, आप ही देखिये ! कितने कष्टसे जीवन बीत रहा है। वर्षोंसे फूटा तवा और फूटी कठौतीतक तो बदली नहीं जा सकती।

सुदामा : (विचारमग्न होकर टहलते हुए) पर कहाँ जाऊँ ? क्या करूँ ?

सुशीला : मेरी मानें तो मैं बताऊँ। पर मेरी आप क्यों मानने लगे ?

सुदामा : अच्छा तुम्हीं कोई उपाय बताओ। जहाँसे बताओ, वहींसे भोजन-सामग्री ले आऊँ।

सुशीला : मैंने कितना कहा कि एकबार द्वारिका हो आइये। महाराज कृष्ण आपके बालसखा हैं। वे सुनेंगे तो अवश्य हमारा कष्ट दूर कर देंगे। पर मेरी कही आप क्यों मानने लगे ?

सुदामा : (झल्लाकर) बस, तुम्हें आठों पहर यही झख चढ़ी रहती है—'द्वारिका जाओ, द्वारिका जाओ।' उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते, यही धुन लगी रहती है। वहाँ क्या लड्डू रखे हैं ? वहाँ जाकर मैं क्या करूँगा ? [सिरपर हाथ रखकर बैठ जाते हैं।]

सुशीला : करना क्या है ? आप वहाँ चले भर जाइये। वे सब समझ जायँगे। उनसे क्या कोई बात छिपी रहेगी ?

सुदामा : श्रीमतीजी ! यह तो तुम ठीक कहती हो। पर उन्हें भेंट देनेके लिए हमारे पास एक मुट्ठी चावलतक तो हैं नहीं। जब वे पूछेंगे कि भाभीने हमारे लिए क्या भेजा है, तब मैं उन्हें क्या उत्तर दूँगा ? इसी डरसे तो मैं द्वारिका जानेका नाम नहीं लेता।

सुशीला : (प्रसन्न होकर) यह कौन-सी बड़ी बात है। मैं अभी किसी पड़ोसिनसे दो मुट्ठी चावल भेंटके लिए माँगे लाती हूँ। [जाती है]

सुदामा : (गालपर हाथ धरकर) सोचा था सस्तेमें बात टल जायगी, द्वारिका जानेसे पिंड छूट जायगा। पर यह तो सब गुड़गोबर हो गया !

[दोनों बच्चे माँको जाते देखकर थालीका चावल झट-झट मुँहमें भरने लगते हैं। सुदामा बच्चोंको चावल फाँकते देखते हैं। उनकी आँखोंसे आँसू टपक पड़ते हैं। वे अँगोछेसे आँखें पोंछते हैं। सुशीलाका प्रवेश।]

सुशीला : यह लीजिये चावलकी पोटली और अब शीघ्र ही गणपति-गौरी मनाकर यात्राके लिए सिद्धि कीजिये। (भीतरसे मैला तथा फटा-सा उत्तरीय लाकर गलेमें डाल तिलक लगाते हुए) कृष्णसे मेरा प्रणाम कहियेगा। भगवान् आपकी यात्रा सफल करें।

[सुदामाका प्रस्थान]

— यवनिका-पतन —

द्वितीय दृश्य

स्थान : द्वारिकाका राजमार्ग

समय : प्रातःकाल

[चकित और विमोहित सुदामा इधर-उधर आँखें फाड़कर देखते हुए एक ओरसे प्रवेश करते हैं। दूसरी ओरसे दो नागरिकोंका प्रवेश।]

श्रीवत्स : प्रणाम महाराज! कहिये, इस प्रकार आँखें फाड़-फाड़कर क्या देख रहे हैं ?

सुदामा : क्यों भाई ! यह कौन-सी नगरी है ?

सुदर्शन : द्वारिकापुरी।

सुदामा : (प्रसन्न होकर) द्वारिकापुरी ! द्वारिकापुरी ! (श्रीवत्ससे) क्या यह वही द्वारिकापुरी है, जहाँ मेरा बाल-सखा रहता है। वाह ! बड़ी ही सुन्दर है तुम्हारी यह नगरी भाई ! जान पड़ता है, इन्द्रपुरी ही पृथ्वीपर उतरी चली आयी हो।

श्रीवत्स : क्या आप पहली ही बार यहाँ पधार रहे हैं ?

सुदामा : हाँ भाई ! पहली ही बार। जीवनमें अभीतक ऐसी सुन्दर नगरी तथा ऐसे सुवर्णमय विशाल भवन कभी देखे नहीं थे।

सुदर्शन : आर्य ! आप आ कहाँसे रहे हैं ?

सुदामा : भाई ! मैं दूर गाँवका वासी ब्राह्मण हूँ।

सुदर्शन : कहिये, हमारे योग्य कोई सेवा ?

सुदामा : ईश्वर आप लोगोंका मंगल करे। मैं यहाँ अपने बालसखा श्रीकृष्णका भवन ढूँढ़ रहा हूँ।

श्रीवत्स : महाराज ! इस विशाल द्वारिकापुरीमें श्रीकृष्ण नामके तो न जाने कितने लोग हैं। बिना पूरा ठिकाना जाने आपके मित्रका भवन हम कैसे बता सकते हैं ?

सुदामा : हम दोनों साथ-साथ गुरुकुलमें पढ़ा करते थे।

सुदर्शन : कहाँके गुरुकुलमें ?

सुदामा : उज्जयिनीके।

[दोनों नागरिक हँसते हैं। सुदामा भी मूर्खोंकी भाँति हँसता है।]

श्रीवत्स : (आश्चर्यसे) उज्जयिनी ?

सुदामा : (उत्साहके साथ) क्या आप समझ गये ? कहिये, कौन-सा भवन है उसका ? मैं उससे मिलनेको उतावला हो रहा हूँ। (निःश्वास छोड़कर) सोलह वर्ष बीत गये। न जाने वह मुझ दरिद्रको पहचान भी पायेगा या नहीं !

श्रीवत्स : (जिज्ञासा-भावसे) क्यों महाराज ! वे यहाँ क्या करते हैं ?

सुदामा : वह तो यहाँका राजा है। उसे सब द्वारिकाधीश कहते हैं।

श्रीवत्स : (ठहाका मारकर) वाह महाराज वाह ! क्या कहने आपके ? आप किस लोककी बातें कर रहे हैं ? भला क्या साथ धनुषधारी वंशीवालेका !

सुदामा : (शान्तभावसे) हाँ भाई ! यह बात तो तुम ठीक कह रहे हो, पर महाराज कृष्णका मैं मित्र अवश्य हूँ।

सुदर्शन : तो भगवन् ! यह जो आप स्फटिकका विशाल भवन देख रहे हैं न, वही है द्वारिकाधीश महाराज श्रीकृष्णका भवन ! यह जो सुवर्णका दंड धारण किये द्वारपाल टहल रहा है, वही आपको भीतर पहुँचा देगा। अच्छा, तो आज्ञा हो, प्रणाम !

[दोनों प्रणाम करते और एक ओरको चल देते हैं।]

गन्धनाग : (आगे बढ़कर सुदामाके पैर छूते हुए) कहिये महाराज ! सेवकके लिए क्या आज्ञा होती है ?

सुदामा : यही महाराज श्रीकृष्णका राजभवन है ?

गन्धनाग : हाँ महाराज ! यही है। कहिये क्या आज्ञा ?

सुदामा : मैं उनसे मिलने आया हूँ।

गन्धनाग : आपके शुभ नामने किन अक्षरोंको पवित्र किया है ?

सुदामा : मेरा छोटा-सा नाम है सुदामा।

गन्धनाग : किस ग्रामको आपका निवास-स्थान बननेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है ?

सुदामा : नाम ही पर्याप्त होगा, ग्राम पूछकर क्या करोगे।

गन्धनाग : आप कृपया मुहूर्तभर यहाँ शिलापट्टपर विश्राम करें, मैं अभी सूचना देकर आता हूँ।

सुदामा : ठीक है, मैं तबतक यहीं घूमता हूँ।

[द्वारपाल भीतर जाता है। सुदामा दूसरो ओर चले जाते हैं।]

— यवनिका-पतन —

तृतीय दृश्य

स्थान : श्रीकृष्णका अन्तःपुर

समय : प्रातःकाल

[श्रीकृष्ण पर्यंकपर लेटे हुए हैं। रुक्मिणी पास ही एक सुवर्ण-मंडित चौकीपर बैठी वीणापर कुछ गुनगुना रही हैं।]

कृष्ण : आर्ये ! आज न जाने रह-रहकर मेरी दाहिनी आँख क्यों फड़क रही है ?

रुक्मिणी : कोई शुभ समाचार मिलनेवाला होगा। आज्ञा हो तो चौसर बिछाऊँ।

कृष्ण : (उठते हुए) अवश्य।

[रुक्मिणी चौसरकी सामग्री लेने जाती हैं। गन्धनागका प्रवेश।]

गन्धनाग : देवकी जय हो !

कृष्ण : क्या है ?

गन्धनाग : महाराज ! द्वारपर एक ब्राह्मण आये खड़े हैं। उनके सिरपर न पगड़ी है, न शरीरपर ढंगके वस्त्र ही। पाँवोंमें उपानहतक नहीं हैं। केवल एक फटी-सी धोती पहने और गलेमें फटा-सा उत्तरीय डाले हुए हैं।

कृष्ण : क्या चाहते हैं ?

गन्धनाग : देव ! वे देवसे मिलना चाहते हैं और अपना नाम सुदामा बतलाते हैं।

कृष्ण : (चौंककर प्रसन्नतासे उछलकर) क्या कहा सुदामा ! मेरे बाल-सखा ? कहाँ हैं ?

[दौड़कर प्रस्थान, पीछे-पीछे द्वारपाल भी जाता है। रुक्मिणी चौसर लिये आती हैं।]

रुक्मिणी : (पर्यंक सूना देखकर) हैं, आर्यपुत्र कहाँ चले गये ?

[चौकीपर चौसर बिछाती हैं। इतनेमें सुदामाको लिये हुए श्रीकृष्ण आते हैं। रुक्मिणी खड़ी होकर देखती हैं।]

कृष्ण : वाह ! मित्र वाह ! इतने दिनोंतक कहाँ भूले रहे ? (रुक्मिणीसे) आर्ये ! ये ही मेरे बाल-सखा सुदामा हैं, जिनके शुभागमनकी सूचना मेरी दायी आँख दे रही थी।

[सुदामाको श्रीकृष्णजी पर्यंकपर बिठाते हैं। सुदामा संकोचके मारे बैठना नहीं चाहते, पर कृष्ण बलात् बिठा देते हैं।]

रुक्मिणी : (सुदामाके पैर छूकर) आर्य ! अभिवादन करती हूँ।

सुदामा : (संकुचित होकर) जय हो देवि ! यह आप क्या करती हैं, आप तो तीनों लोकोंके नायककी हृदयेश्वरी हैं।

कृष्ण : (सुदामासे) इन्हें आशीर्वाद दीजिये कि ये मुझपर कृपा करती रहें।

रुक्मिणी : आपने फिर अपने स्वभावके अनुकूल प्रारंभ कर दिया न ?

कृष्ण : अच्छा आर्ये ! अपने अतिथिका सत्कार तो करो।

रुक्मिणी : अभी लीजिये। [मुस्कराते हुए रुक्मिणीका प्रस्थान।]

सुदामा : (विनीत स्वरमें) मैं तो बस इसी संकोचके मारे नहीं आ रहा था कि मैं दरिद्र ब्राह्मण और तुम द्वारिकाधीश। कहीं तुमने न पहचाना तो तुम्हारी भाभी मुझे ताने मार-मारकर जीना दूभर कर देगी; क्योंकि मैं तो उसके आगे सदा तुम्हारे ही गुण गाता रहता हूँ।

कृष्ण : (मुस्कराकर) अच्छा यह बात थी ! तो तुम भाभीके कहनेसे यहाँ आये हो ?

[रुक्मिणी हाथमें जलपानकी सामग्री लिये और पीछे सुनयना परिचारिका एक हाथमें जलपात्र तथा दूसरेमें परात लिये हुए प्रवेश करती हैं। रुक्मिणी जलपानकी सामग्री एक ओर रख देती हैं और दासीके हाथसे परात लेकर सुदामाके पैरोंके नीचे रखती हैं।]

कृष्ण : (सुदामाके पैर हाथमें लेकर दुःखी होकर) आह मित्र ! तुम्हें यहाँ आनेमें कितना कष्ट उठाना पड़ा। यह देखो ! मार्गके कंटकोंसे तुम्हारे पैर कैसे बिध गये हैं। सारे पैरमें छाले पड़ गये हैं। (आँखोंमें आँसू भरकर भर्राये स्वरमें) ओह ! तुम्हारी यह क्या दशा हो गयी ?

[रुक्मिणी जलपात्रसे पैरोंपर पानी डालती हैं, कृष्ण धोते हैं। मारे संकोचके सुदामाकी बुरी दशा होने लगती है। वह कभी इधर, कभी उधर देखता है। कृष्ण अपने पीताम्बरसे पैर पोंछते हैं। दासी परात तथा जलपात्र उठाकर चली जाती है। रुक्मिणी जलपानकी सामग्री सामने रखती हैं।]

कृष्ण : भोग लगाओ मित्र ! और हाँ, यह तो बतलाओ कि भाभीने हमारे लिए क्या भेजा है ?

सुदामा : (पोटली काँखमें दबाते हुए) मुझ दरिद्रके पास है ही क्या, जो तुम्हारे जैसे राजाके लिए भेंट लाता।

कृष्ण : नहीं, मैं यह मान ही नहीं सकता। भाभी तुम्हें यहाँ भेजें और रीते हाथ भेजें, यह हो ही नहीं सकता।

सुदामा : (पोटलीको और भी दृढ़तासे काँखमें दबाते हुए) वह क्या भेजेगी ? उसके पास धरा क्या है ?

कृष्ण : (झटकेसे पोटली खींचते हुए) क्यों मित्र ! पुराना स्वभाव अभी तक गया नहीं ?

[रुक्मिणी हँसने लगती है। सुदामा लज्जित होकर सिर झुका लेते हैं।]

कृष्ण : (पोटली खोलकर चावल फाँकते हुए) वाह ! कितने मीठे चावल हैं। (सुदामासे) अब समझा, इसीलिए तुम देनेमें आना-कानी कर रहे थे।

[कृष्ण दूसरी बार चावल फाँकते हैं।]

कृष्ण : मित्र ! सच कहता हूँ, इतने मीठे चावल जीवनमें कभी भी नहीं खाये।

[तीसरी मुट्ठी ज्यों ही भरते हैं त्यों ही रुक्मिणी जी हाथ पकड़ लेती हैं।]

रुक्मिणी : यह आपको हो क्या गया है आर्यपुत्र ! दो मुट्ठीमें तो आपने दो लोक इन्हें दे डाले। अब हम लोगोंके लिए भी तो एकआध लोक रहने दीजिये। इधर लाइये। कुछ हम भी तो प्रसाद लें।

[रुक्मिणी चावल उठा लेती हैं। कृष्ण मुस्कराकर सुदामाकी ओर देखते हैं। सुदामा लज्जासे सिर झुका लेते हैं।]

— यवनिका-पतन —

चतुर्थ दृश्य

स्थान : सुदामापुरीका पथ

समय : तीसरा पहर

[सुदामा बड़बड़ाते हुए प्रवेश करते हैं।]

सुदामा : मैं पहले ही कह रहा था कि वहाँ न भेजो, न भेजो, पर मुझे ठेलकर भेज ही दिया। आदर-सत्कार लेकर क्या करूँगा ? चलतो बेर फूटी कौड़ी भी थमा दो होती तो जानता कि कुछ सहानुभूति दिखायी। वह मेरा बचपनका साथी है, इसलिए शाप तो नहीं दूँगा, पर यह अवश्य कहूँगा कि जैसा उसने मेरे साथ किया, वैसा स्वयं भोगे। (एकाएक चौंककर) ऐं, यह क्या ? यह मैं किधर आ निकला ? क्या फिर द्वारकापुरी आ पहुँचा ? पर नहीं, मैं तो सीधा अपने गाँवको ही चला था, मार्ग भी नहीं भूला। (आँखें मलता है) हे ईश्वर ! यह तेरी कैसी लीला है ? कहाँ गयी मेरी टूटी मड़ैया ? मेरी ब्राह्मणी ! मेरे बच्चे !

[जीवकका प्रवेश।]

जीवक : (प्रणाम करके) महाराज आपको देवीजीने स्मरण किया है।

सुदामा : (आश्चर्यसे) देवीजी ! कैसी देवी ! कौन-सी देवी ! मैं तो किसी देवीको नहीं जानता। यह नगरी कौन-सी है ?

जीवक : श्रीमन् ! यह सुदामापुरी है और यह सामनेवाला विशाल भवन आपका ही है।

सुदामा : (आश्चर्यपूर्ण क्षोभसे) मेरा ! एँ ! मुझ अभागे ब्राह्मणकी हँसी क्यों उड़ा रहे हो भाई !

जीवक : महाराज ! मैं तो आपका सेवक हूँ। ऐसी धृष्टता कैसे कर सकता हूँ ?

सुदामा : (सिर पकड़कर) हे प्रभो ! यह आपकी कैसी लीला है ? क्यों एक दरिद्रके अभाग्यकी हँसी उड़वा रहे हैं ? मैंने आपका कौन-सा अनिष्ट किया है ? बोलो न ! मेरी तो टूटी-सी झोपड़ी थी। बाँसकी पिटारी, टाटकी कथरी, दो-चार टूटे-फूटे बर्तन और कपिला गाय ! सब कहाँ चले गये और कहाँ गयी मेरी पतिव्रता ब्राह्मणी सुशीला ?

[अलंकार तथा प्रमिलाका प्रवेश।]

अलंकार : } पिताजी ! पिताजी ! आप यहाँ क्यों बैठे हैं ?
प्रमिला : } यह देखिये, माताजी चली आ रही हैं।

[सुदामा सिर उठाकर देखता है और बच्चोंको हृदयसे लगा लेता है।]

सुदामा : अरे ! ये वस्त्र तुम्हें कहाँसे मिले ?

अलंकार : कृष्ण चाचाने भेजे हैं।

सुदामा : अरे वह यहाँ कब आया ? अभी तो मैं उसे द्वारिकाके भवनमें छोड़े आ रहा हूँ।

प्रमिला : वे ? वे तो कभीसे यहाँ बैठे थे। अभी-अभी तो गये हैं। उन्हींने वस्त्र दिये और यह भवन भी बनवा दिया है।

सुदामा : (नेत्रोंमें प्रेमाश्रु भरकर घुटने टेककर भक्तिपूर्वक।) मित्र कृष्ण ! क्षमा करना। मैंने अनजाने ही तुम्हें बहुत-सी अनुचित बातें कह डालीं। तुम अन्तर्यामी हो। मैं बार-बार तुम्हें प्रणाम करता हूँ।

[भक्तिसे सिर नवाता है। बच्चे भी पिताका अनुकरण करते हैं।
सुशीला हाथमें आरती लिये प्रवेश करती है।]

सुशीला : उठिये आर्यपुत्र !

[दोनों बच्चे सुदामाको पकड़कर उठाते हैं।]

अलंकार : } पिताजी ! उठिये। माताजी आयी हैं।
प्रमिला : } माताजी कबसे आपको उठा रही हैं।

[सुदामा उठते हैं। सुशीला आरती करती है।]

— पटाक्षेप —

विजया-दशमी : आध्यात्मिक अध्ययन

श्री गोविन्द नरहरि वैजापुरकर
एम० ए०, न्याय-वेदान्त-साहित्याचार्य

★

एककी विजयको दूसरेकी पराजयसे सना बताकर भले ही आजकी कोई तथाकथित आदर्शवादी समाज-रचना विजयादशमी पर्वके लिए भी नाक-भौंह सिकोड़े। किन्तु तथ्य यह है कि जब सारा जगत् ही आचार्य शंकरके शब्दोंमें सत्य और असत्यके मिश्रणसे बना हुआ है, तो असत्यपर सत्यकी विजयसे कोई भी सभ्य मुँह मोड़ नहीं सकता। ऐसी स्थितिमें भौतिक दृष्टिसे विजयादशमीके दिन उत्तरी भारतमें कागजका रावण जलाकर रामकी विजय-वैजयन्ती फहरायी जाती हो या दक्षिणी भारतमें, खासकर महाराष्ट्रमें विजयके प्रतीकस्वरूप सीमोल्लङ्घन कर पर-राज्यसे 'सोना' (जवारा या जई) लूट स्वदेश-जनोंको भर-भरकर बाँटा जाता हो। लेकिन आध्यात्मिक दृष्टिसे यह दिन निश्चय ही अज्ञानपर ज्ञानकी या असत्यपर सत्यकी विजय है। इस पर्वके आगे-पीछेकी भूमिकाएँ इसी तथ्यसे संबद्ध हैं। तब कोई कारण नहीं कि सभी भारतीय इसे सोत्साह मनानेके लिए प्रस्तुत न हों।

वैसे विजयादशमीका धार्मिक-व्यावहारिक रूप है : जया-विजया-सहित अपराजिता देवीका पूजन, शमीवृक्ष और शस्त्रास्त्रोंका पूजन, सीमोल्लंघन और विजय-यात्रा। भगवान् राम द्वारा इसी दिन रावण-विजयार्थ लंका-प्रस्थान किये जानेकी मान्यता है। इसके पूर्व षष्ठी तिथिको मूल नक्षत्रमें स्थापित आवाहित-पूजित सरस्वतीका आजके दिन श्रवण नक्षत्रमें विसर्जन किया जाता है और चार दिनों तक शयनके पश्चात् प्रबुद्ध सरस्वतीकी विद्यार्थी गण नये ग्रन्थके स्वाध्यायसे अगवानी करते हैं। इसके पूर्व आश्विन शुक्ल प्रतिपद्से प्रारंभ होनेवाले शारदीय नवरात्रके दिन घटस्थापन-सहित देवी-विग्रहका स्थापन-पूजन, नौ दिन अहोरात्र अखण्ड दीपका प्रज्वालन, पूजन, सप्तशती-पाठ, बलिदान, महापूजाके साथ नवमीके के दिन इस महानुष्ठानकी पारणा की जाती है। किन्तु इन सब कृत्योंके अपने-अपने आध्यात्मिक रूप भी हैं, जो इस सारे कर्म-काण्डमें एक नवीन चेतना भर देते हैं।

सचमुच विजयादशमी और उससे सम्बद्ध नवरात्रके आध्यात्मिक रूपकी झाँकी बड़ी ही उद्बोधक और रोचक है : यह पर्व आश्विन मासके शुक्लपक्षमें पड़ता है, तो पहले उसीके रहस्यपर ध्यान दें। इस मासकी पूर्णिमा अश्विनीनक्षत्रसे युक्त होनेसे यह 'आश्विन मास'

कहलाता है और प्रस्तुत अश्विनी नक्षत्रका सम्बन्ध अश्वसे माना गया है। साथ ही अश्व है है वीरोंका एक प्रमुखतम उपकरण। इसी तरह भारतीय राजनीतिमें युद्धार्थ प्रस्थान शुक्लपक्षमें ही विहित है। वर्षा और पंकके कारण चातुर्मास्यके प्रारंभसे रुके वीरोंके विजय-प्रस्थानका यह बड़ा ही सुमुहूर्त है। इस प्रकार मास और पक्ष दोनों इस पर्वका विजयसे सम्बन्ध जोड़नेमें सुदृढ़ नींवका काम करते हैं।

इसके बाद मूल विजयादशमीपर ही दृष्टि डालें, तो दीख पड़ेगा कि यह 'दश+शमी' है। तात्पर्य यह कि आन्तर और बाह्य जीवनके धारक-पोषक दशविध सामर्थ्य-केन्द्रोंकी उच्छृङ्खलताओंका यह शमन कर देती है, जिनसे जीवनमें पग-पगपर गतिरोध उपस्थित हुआ करता है। इस तरह इन दस सामर्थ्य-केन्द्रोंकी उच्छृङ्खलताओंका शमन सर्वसाधारणके लिए सर्वथा अनुपेक्षणीय है। तभी मानव विजयका सेहरा सिरपर चढ़ा सकता है। इन दस सामर्थ्य-केन्द्रोंमें १. आत्मा, २. बुद्धि, ३. अहंकार, ४. मन, ५. इन्द्रियाँ (ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ) तथा ६. शरीर (व्यक्ति)—ये छह तो हैं आन्तर सामर्थ्य-केन्द्र और ७. समाज, ८. राष्ट्र तथा ९. विश्व ये हैं, तीन व्यक्ति-समूह (समष्टि) के बाह्य सामर्थ्य-केन्द्र। विजया-दशमीके दिन इन दसों शक्ति-केन्द्रोंकी उच्छृङ्खलताएँ सर्वथा शमित होकर ये सुव्यव-स्थित रूपमें कार्यक्षम बन जाते हैं, जिससे मानव आन्तर-बाह्य विजयका साम्राज्यसुख भोगनेका सुअवसर पाता है।

आप पूछेंगे, यह क्यों और कैसे ? तो इसका उत्तर होगा—हम इस विजयादशमीके पूर्व नवरात्रिके प्रतीक रूपमें नवविध शक्ति-केन्द्रोंकी इन्हीं उच्छृङ्खलताओंको मिटानेकी सुनियोजित साधना किया करते हैं, जिससे विजयादशमीके दिनसे ये शक्ति-केन्द्र नियन्त्रित रूपसे विश्व-कल्याणकी साधनामें नियोजित हो जायँ।

इन नवविध उच्छृङ्खलताओंकी प्रतीक नव कालरात्रियोंके बीच प्रथम कालरात्रि है, आत्माकी उच्छृङ्खलता। आत्मा परमार्थतः सर्वव्यापक और अद्वितीय है। फिर भी हम व्यवहारमें द्वन्द्वभाव, परभावकी सर्जना कर एक दूसरेके साथ काल्पनिक विरोध खड़ा कर लेते हैं। यही है आत्मकेन्द्रकी उच्छृङ्खलता। द्वितीय कालरात्रि है, बुद्धिकी उच्छृङ्खलता। बुद्धि शुद्ध-सात्त्विक ज्ञानका क्षेत्र है, जो सर्वविध बन्धन और संसार-बन्धन तकसे मुक्ति दिलाती है। लेकिन वह विविध मत-मतान्तरोंसे संशयग्रस्त, प्रमादिनी और उच्छृङ्खल बन गयी है। फलतः बन्धनमुक्ति और प्रकाशदानका कार्य उससे बन नहीं पाता। यही है उसकी उच्छृङ्खलता। तृतीय कालरात्रि है, अहंकारकी उच्छृङ्खलता। सचमुच अहंकार महान् प्रेरकशक्ति है। लेकिन तरह-तरहके पन्थोंके अभिनिवेशोंसे पथभ्रान्त हो वह गलत रास्तेपर बह चलने लगता है जिससे उसकी वह प्रेरणा-शक्ति अश्रेयस् बढ़ानेमें ही लग जाती है। यही है, अहंकारकी उच्छृङ्खलता।

चतुर्थ कालरात्रि है, मनकी उच्छृङ्खलता। मन मूलतः अत्यन्त सामर्थ्यवान् है। एकमात्र वही मानवके बन्ध और मोक्षका कारण है। उस लगामको सावधानीसे पकड़ रखने-वाला सक्षम सारथी चाहिए। किन्तु उसकी उपेक्षासे लगाम ढीली होकर मतवाले घोड़े रथको

गड्ढेमें डाल देते हैं। सारथीकी असावधानीसे आज लगामकी यही अवस्था है और यही है मनकी उच्छृङ्खलता। पञ्चम कालरात्रि है, इन्द्रियोंकी उच्छृङ्खलता। वास्तवमें इन्द्रियाँ इन्द्र यानी जीवात्माकी विशेष शक्तियाँ हैं। वे क्या कर रही हैं, यह मालिकको देखना चाहिए। लेकिन वह आज इस बातमें प्रमाद कर रहा है। फलतः घोड़े रथको गड्ढेमें ले जा रहे हैं। यही है इन्द्रियोंकी उच्छृङ्खलता। षष्ठ कालरात्रि है, शरीरकी उच्छृङ्खलता। गीतामें शरीरको 'क्षेत्र' कहा गया है। इस साधनसे मानव चाहे जैसा अभ्युदय कर सकता है। लेकिन आज यह विषय-भोगोंमें डूबकर अकालमें ही अपनेको गलितगात्र मुमूर्षु बनाये बैठा है। यही है शरीरकी उच्छृङ्खलता।

अपने कर्तव्यके अज्ञान या विपरीत ज्ञानसे आक्रान्त होकर जब इन छह शक्ति-केन्द्रोंका अधिष्ठाता व्यक्ति ही पथभ्रष्ट हो चला, तो उसीका समूहस्वरूप समाज किस तरह नियन्त्रित और अविकृत बना रह सकता है? यही है सप्तम कालरात्रि, जिसका प्रतीक बनती है समाज-गत उच्छृङ्खलता। समाज आज संघटनका मर्म और लाभ नहीं जानता और जानकर भी उसे साधनेमें अनपेक्षित प्रमाद करता रहता है। अष्टम कालरात्रि है, राष्ट्रकी उच्छृङ्खलता। समाजकी तरह ही राष्ट्र भी अनेक समाजके संघटनसे भिन्न नहीं और जब समाज ही उन्मत्त-चेष्टित करता है, तो उसके समूह राष्ट्रसे श्रेयस्‌की आशा क्या की जा सकती है? अनन्यभावसे परस्परकी सेवा-सहायता एवं पोषण ही राष्ट्रका इतिकर्तव्य बताया गया है और उसीके अज्ञानमें आज राष्ट्र डूबा हुआ है। यही उसकी उच्छृङ्खलता है, जिससे राष्ट्रके उत्कर्षका द्वार सर्वथा अवरुद्ध हो गया है। अन्तिम और नवम कालरात्रि है, विश्वकी उच्छृङ्खलता। सारे राष्ट्र परस्पर सौमनस्य एवं सामंजस्यसे समन्वित तथा एक दूसरेके पूरक बनकर बरतें, तभी विश्वका कल्याण संभव होता है, तभी विश्वरूप विष्णु जगत्‌के पालनमें सक्षम बन पाता है। लेकिन आज तो एक-एक राष्ट्र निर्मम निरपराधोंके संहारपर उतारू है और विश्व-संघटनके ठेकेदार उसे टुकुर-टुकुर देखते जा रहे हैं। क्या यह विश्वकी कम उच्छृङ्खलता है? इससे विश्व कहाँसे कहाँ चला जायगा? मानवका मानवसे व्यवहारविषयक यह अज्ञान या विपरीत ज्ञान ही विश्वकी इस उच्छृङ्खलताकी जड़ है।

इस तरह स्पष्ट है कि इन नवविधा कालरात्रियोंमें अज्ञानान्धकारकी किसी तरह कमी नहीं। इस प्रबल अन्धकारका ही प्रभाव है कि अहोरात्रात्मक नवरात्रकी इन कालरात्रियोंने अपने अर्धशरीर नौ दिनोंको भी घोर अन्धकाराच्छन्न बना दिया है। यही कारण है कि अहोरात्रात्मक समग्र नव कालरात्रियोंसे पार पानेके लिए ज्ञानरूप अखण्ड दीपकी उपासना की जाती है। नवरात्रमें नौ दिनोंतक अखण्डरूप जलाया जानेवाला दीप इसीका भौतिक प्रतीक है। उसकी उपासनाके साथ-साथ मार्कण्डेयपुराणोक्त देवीमाहात्म्यका ज्ञानदीप भी अखण्ड जलाया जाता है, ताकि मानवके इन नौ शक्ति-केन्द्रोंकी उच्छृङ्खलतारूप नौ कालरात्रियाँ व्यतीत होकर विजयकारिणी दश-शमीरूपा विजयादशमीका मंगलमय प्रभात देखनेका सौभाग्य प्राप्त हो।

इस भौतिक प्रदीपमें भी स्नेह पूरा-पूरा भरा होना चाहिए, तभी वह अखण्ड नौ रात्रियोंतक प्रज्वलित होता रहेगा। प्राणिमात्र सदैव स्नेहसे ही एक दूसरेसे मिल पाता है।

पिण्डीभाव बनाना स्नेहका शास्त्रीय स्वरूप है। उसीके बलपर व्यक्ति व्यक्तियोंका, समाज समाजोंका और राष्ट्र राष्ट्रोंका विश्वरूप व्यापक साकार बननेमें सक्षम हो पाता है तथा 'पूर्णमदः पूर्णमिदम्' की दिव्य झांकी कराता है। इस तरह कभी हममें स्नेहकी कमी या अभाव न हो, यही आध्यात्मिक अखण्ड प्रेरणा यह भौतिक दीप दिया करता है। इस दीपमें रहनेवाली बत्तीको संस्कृतमें 'वर्तिका' कहते हैं, जो मूलतः वर्तनार्थक वृत् धातुके योगसे बना है। वर्तिका अनेक तन्तुओंको एकमें जोड़नेका उदार व्यवहार करती और मानवको आचरणद्वारा उसीका पाठ पढ़ाती है। वह बताती है कि निर्बलोंको अपना बल न्यून देखकर निराश न होने दें और स्वयं संघटनकर परस्पर स्नेहपूर्ण आकर्षण करें तथा प्रकाश-दानसे विश्वको प्रोज्ज्वल कर छोड़ें।

प्रस्तुत नवरात्रियोंका अज्ञानान्धकार दूर कर दसों उच्छृङ्खलताओंके शमनार्थ इस अखण्ड भौतिक दीपके अतिरिक्त देवी-माहात्म्य (सप्तशती) के पाठस्वरूप ज्ञानदीप भी इन नवरात्रियोंके बीच जलाया जाता है, जो दीपतत्त्वका आध्यात्मिक स्वरूप है। वैसे इस ग्रन्थमें राजा सुरथ और समाधि नामक वैश्यकी कथाको आधार बनाकर देवीके महासरस्वती, महालक्ष्मी, महाकाली रूपोंका विस्तृत माहात्म्य बताया और उनकी उपासनाका निर्देश किया गया है। किन्तु आध्यात्मिक दृष्टिसे ये देवियाँ क्रमशः महाविद्या (महाज्ञान, निरवविज्ञान), महान् ऐश्वर्य और जीवनके मध्य पड़नेवाले अनेक विघ्नरूप शत्रुओंका दमन करनेवाली महावीरा-एकवीरा शक्तिकी ही प्रतीक हैं। इनमेंसे किसी भी एकको छोड़कर मानवका समग्र जीवन निर्बाध रूपमें कभी नहीं चल सकता। मूलतः वह एक ही महालक्ष्मीस्वरूप होनेपर भी कार्यविशेषके भेदसे इन तीन नामोंको प्राप्त करती है। इस दृष्टिसे एक ही शक्तिके तीनों समग्र रूपोंकी उपासना करना जीवन-यात्राको निरापद चलानेके इच्छुक प्रत्येक मानवका अनिवार्य कर्तव्य हो जाता है।

सचमुच यह देवी-माहात्म्य या सप्तशती एक ऐसा आलोक-स्तम्भ है, जो मानवके ऐहिक और पारलौकिक दोनों जीवनोंके गन्तव्य मार्गोंको सदैव आलोकित किया करता है। आध्यात्मिक रहस्य तो इसमें कूट-कूटकर भरे पड़े हैं। व्यावहारिक जीवनके लिए भी प्रेरणाप्रद और मंजिल तक पहुँचानेवाले कितने ही रहस्य खोले गये हैं। सात सौ मन्त्रों और १३ अध्यायोंके इस ग्रन्थमें तीन चरित्र आते हैं, महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती इन तीन शक्तियोंके। प्रथम एकमात्र अध्यायमें प्रथम शक्तिकी, द्वितीय अध्यायसे चतुर्थ अध्याय तक द्वितीय शक्तिकी और पञ्चमसे त्रयोदश अध्यायतक तृतीय शक्तिकी महिमा चरित्रों द्वारा वर्णित हैं। प्रथम चरित्रमें महाकालीके प्रभावसे मधु-कैटभ असुरका वध वर्णित है। द्वितीय चरित्रमें महालक्ष्मीके बलपर महिषासुरका वध हुआ तो तृतीय चरित्रमें महासरस्वतीने शुम्भ-निशुम्भका नाश कर डाला।

स्थूलरूपमें ग्रन्थमें युद्ध और वधकी कथा होते हुए भी अनेक व्यावहारिक गुत्थियोंको भी सुलझानेका प्रयत्न किया है। प्रथम चरित्र सावधानताका उपदेश देता है। ब्रह्मा, विष्णु और महेश अपनी तीन शक्तियों (सरस्वती, लक्ष्मी, काली) को तथा अपने पार्षदोंको अपना सर्जन, पालक एवं संहार-कार्य सौंप असावधान हो अपने-अपने प्रिय विषयों (वेदाभ्यास,

(शेष पृष्ठ ६० पर)

जय जय जगत-मातु-पितु-जोरी !
जय लावण्य-जलधि शंकर शिव, जय गिरिराज-किसोरी ॥ १ ॥
जय जगजीवन अग्नि-सोमदृश, जय जय जलधर-मोरी।
जय शिव पञ्चकृत्य करुनाकर, जय अनन्त वर झोरी ॥ २ ॥
जय शृंगार सरोवर सुन्दर, जय छबि छटा करोरी।
जय तपस्विजन सकल सुकृत फल, जय करुनाबर जोरी ॥ ३ ॥
जय शिव सामरस्य-रस-निर्झर, जय विमर्श वर जोरी।
जय स्वतंत्र सर्वेश 'महेश्वर', जय स्वतंत्रता बोरी ॥ ४ ॥
जय हो जय हो विश्वेश्वर, जय जय मंगल-गोरी।
जय जय जगदाधार मनोहर, जय विस्फार निहोरी ॥ ५ ॥

—जगद्गुरु शंकराचार्य श्री महेश्वरानन्द सरस्वती

(पृष्ठ ५९ का शेषांश)

लक्ष्मी-भोग और योगसाधनामें लग जाते हैं तो मधु-कैटभ जैसे राक्षसोंकी घोर विपदा खड़ी हो जाती है। अतः सावधानी परमावश्यक है। द्वितीय चरित्रमें महिषासुरकी गुण्डईका सीधा जवाब देवों द्वारा अपनी-अपनी शक्तिका संघटन मूर्त देवीरूपमें साकार कर दिया गया। अतः ऐसी गुण्डईसे बड़ीसे बड़ी शक्ति टिक नहीं सकती, यह प्रेरणा मिलती है। तृतीय चरित्र तो बड़ा ही मार्मिक है। प्रतिपक्षी शत्रु न केवल देवोंको पराजित करता है, प्रत्युत उनसे सारे अधिकार-पद छीन उन्हें लुंज-पुंज भी बना डालता है। देवता निरुत्साह हो हाथपर हाथ धरे बैठ जाते हैं। किन्तु मातृशक्तिको, जो दैनिक जीवनका साक्षात् निर्वहण करती है, यह स्थिति सह्य कैसे हो सकती है ? वह आगे आकर अपनेमें से ही अनेक शक्तियाँ आविर्भूतकर उनके एक-एक दाँवको शह देती और अन्तमें दोनों प्रबलतम अधिनायकोंकी नामशेष कर देती है। अतएव कोई कभी अपनी बलवृद्धिपर तानाशाह बननेका साहस न करें, अन्यथा उसे नामशेष ही होना पड़ेगा, यह उपदेश (ज्ञान) प्रस्तुत चरित्र देता है।

इस तरह प्रत्यक्ष ज्ञान-दीप और देवी माहात्म्यका दीप अखण्ड जलाकर नव कालरात्रियोंके नाशके बाद आनेवाला यह विजयादशमी पर्व सभी मानवोंके लिए उत्साह और प्रेरणादायी बने, इन्हीं शब्दोंमें हम उसका स्वागत करते हैं। ●

प्राचीन जैनागमकी दृष्टिमें—

पुरुषोत्तम श्रीकृष्णके विशिष्ट पराक्रम

श्री अगरचन्द नाहटा

★

पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण बाइसवें जैन तीर्थंकर नेमिनाथके चचेरे भाई थे। अतः जैनागम-ग्रन्थोंमें उनके सम्बन्धमें बड़े महत्त्वपूर्ण विवरण प्राप्त होते हैं। उनमें से श्रीकृष्णके एक विशिष्ट पराक्रमका प्रसंग यहाँ उपस्थित किया जाता है, जो द्रौपदीसे सम्बद्ध है।

जंबूद्वीपके भरत-क्षेत्रवर्ती पाञ्चाल देशमें काम्पिल्यपुर नामक नगर था। वहाँके नरपति द्रुपदकी चुलण नामकी रानी थी। उसके [1]धृष्टार्जुन नामक पुत्र (युवराज) एवं द्रौपदी नामक पुत्री थी। यौवनावस्था प्राप्त होनेपर द्रुपद राजाने द्रौपदीके स्वयंवरका आयोजन किया। उसमें द्वारिकाके श्रीकृष्ण, समुद्र-विजयादि, हस्तिनापुरके पांचों पांडव (युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव) सहित पांडुराजा, दुर्योधनादि १०० भ्राता, गांगेय, विदुर, द्रोण, जयद्रथ, शकुल (या शकुनि), क्लीब, अश्वत्थामा सहित चम्पानगरीके अंगराज कर्ण, सल्यानंदि, सोक्तिमती नगरीके राजा शिशुपाल, दमघोषादि ५०० पुत्रोंके साथ हस्तिशीर्ष नगरके राजा दमदन्त, मथुराके राजा धर, राजगृहके राजा जरासन्ध तथा उसके पुत्र सहदेव, कौडिन्यनगरके पुत्रसहित राजा भीष्म, विराट्नगरके राजा कीचक अपने १०० भाइयोंके साथ एवं शेष अनेक नगरोंके अन्यान्य राजाओंको भी द्रौपदीके स्वयंवरमें पधारनेके लिए आमन्त्रित करनेके हेतु दूत भेजे गये। स्वयंवर-सभा गङ्गानदीके तटपर लगी। यथा समय द्रौपदीने पंचवर्णवाली माला पाण्डवोंके गलेमें डाल दी। कृष्ण, वासुदेव आदि सहस्रों राजाओंने द्रौपदीको इस चुनावके लिए साधुवाद दिया।

एकबार नारद पाण्डवोंके घर पधारे। उन सबने उनका सत्कार किया, पर द्रौपदीने उन्हें अविरति समझकर उनका सम्मान नहीं किया। नारदने मन-ही-मन बदला लेनेका संकल्प लिया और वहाँसे विद्याधरगतिसे धातकीखंडवर्ती अमरकङ्का नगरीमें पधारे। वहाँके राजा पद्मनाभ थे, जिनके सात सौ रानियाँ थीं। उनको सुनाम नामक युवराज कुमार था। राजा अन्तःपुरमें रानियोंके साथ सिंहासनपर बैठे हुए थे। नारदको आते देख राजाने उनका सम्मान-सत्कार किया। उनसे कुशलादि पूछनेके बाद गर्वित होकर बोला: 'क्या आपने मेरी रानियोंके सदृश रूपवती स्त्रियोंका समुदाय कहीं देखा है?' नारदजीने मृदुहास्यपूर्वक कहा: 'पद्मनाभ! पांडवोंकी पत्नी द्रौपदीके पैरके अँगूठेकी समता करनेवाली तुम्हारी इन रानियोंमें से कोई नहीं है। वह लोकोत्तर रूपवती है।' इन वचनोंसे उत्कण्ठित हो पद्मनाभने पूर्वपरिचित मित्र देवका आराधन किया। उसने द्रौपदीके सतीत्वकी बात सुनकर

---

१. महाभारतमें इसका नाम धृष्टधुम्न आया है।

हस्तिनापुरमें युधिष्ठिरके साथ सोती हुई द्रौपदीको अवस्वापिनी निद्रा देकर वहाँसे उठाकर पद्मनाम भवनमें ला रखा। जाग्रत् होनेपर द्रौपदी विस्मित हुई। पद्मनाभने अपना कुत्सित अभिप्राय कहा। द्रौपदीने ६ महीनेकी अवधि माँगकर २-३ उपवास-पारणोंमें आयेम्बिल (एक ही बार एक ही अन्न) ग्रहणकर तप करना प्रारम्भ किया। युधिष्ठिरने खोयी हुई द्रौपदीको पानेके लिए बहुत अन्वेषण करवाया, पर कुछ पता न चला। अन्तमें कुन्तीके परामर्शसे उन्हींको श्रीकृष्णके पास भेजा। बुआ के अनुरोधसे श्रीकृष्णने द्रौपदीका पता लगानेका वचन दिया। संयोगवश उन्हें नारदसे ही द्रौपदीका पता लग गया और असरकङ्काके राजाको युद्धमें पराजित करके उन्होंने द्रौपदीकी प्राप्ति की।

पाँच पांडवों और द्रौपदीके साथ लवणसमुद्र पारकर जब श्रीकृष्ण भरतक्षेत्रमें गङ्गाके पास आये तो सुस्थित देवसे मिलने अकेले चले गये। पांडवोंने नौकासे नदी पार की और उस पार जाकर गङ्गामें नौकाको गुप्त रख श्रीकृष्णकी प्रतीक्षा करने लगे। श्रीकृष्णने सुस्थितदेवसे मिलकर गङ्गानदीके पास नौकाकी गवेषणा की, पर नौका न मिलनेसे एक हाथमें अश्व, सारथी एवं रथको उठाया और दूसरे हाथसे ९२॥ योजन विस्तारवाली गङ्गामें तैरने लगे। तैरते-तैरते नदीके मध्य आनेपर वे थक गये और विचार करने लगे : 'पांडव बड़े बलवान् हैं जो इतनी बड़ी नदी तैर गये। फिर भी वे पद्मनाथको क्यों नही जीत सके, यही आश्चर्य है।' श्रीकृष्णको थका हुआ जानकर श्री गङ्गादेवीने वहां स्थल बना दिया। श्रीकृष्ण दो घड़ी विश्रामकर फिर अवशिष्ट गङ्गाको तैरकर पांडवोंके पास पहुँचे और अपने पूर्वविचारित शब्द कहे। प्रत्युत्तरमें सारा वृत्तान्त पांडवोंने सुनाया : 'हमें तो छोटी-सी नौका मिल गयी थी। उससे पार हो आये, पर आपकी बल-परीक्षाके लिए हमने नौका वापस नहीं भेजी।' यह सुनकर श्रीकृष्ण बड़े क्रोधित हुए और ललाटमें त्रिवली चढ़ाकर कहने लगे : 'जब मैंने दो लाख योजनोंका लवणसमुद्र उल्लंघनकर, पद्मनाथको ससैन्य भगाकर अमरकङ्काको तोड़कर द्रौपदीको तुम्हें लाकर दिया तब तुमने मेरा पराक्रम नहीं देखा तो अब जानोगे !' कहते हुए उन्होंने लोहदण्ड उठाकर पांचों पांडवोंके रथोंको चूर्ण-विचूर्ण कर डाला और पांडवोंको देश-निकालेकी आज्ञा दे दी। रथ-मर्दनकी स्मृतिमें वहां रथमर्दनपुर नामक एक कोट बनाया। तदनन्तर श्रीकृष्ण अपने सैन्यसहित द्वारिका चले गये।

इधर पांचों पांडवोंने पांडु राजाके पास जाकर देश-निकाले तकका सारा हाल कह सुनाया। पांडु राजाने भी उन्हें बहुत भला-बुरा कहा और कुन्तीको बुलाकर उन्हें कृष्णके पास भेज यह सन्देश कहलवाया : 'तुम अर्ध भरतखण्डके स्वामी हो। तुमने पांडवोंको देशनिकाला दे दिया तो तुम्हीं कहो वे अब कहां रहें ?" कुन्तीने पूर्ववत् द्वारिका जाकर सारी बात समझायी तब श्रीकृष्णने कहा : 'बुआजी ! चक्रवर्ती वसुदेवादि उत्तम पुरुषोंके वचन असत्य नहीं हो सकते, इससे पांडव वैतालिक (समुद्र) के तटपर नवीन पांडु-मथुरा बसाकर मेरी दृष्टिसे दूर रहें।' यों कह श्रीकृष्णने कुन्तीको सत्कृत कर विदा किया। श्रीकृष्णका नया आदेश पाकर पांडवोंने वैसा ही किया। उन्होंने पांडु-मथुरा बसाकर वहां विपुल भोग-समृद्धि प्राप्त की।

●

अपनी बात

धीर न्याय्यपक्षसे तनिक भी नहीं डिगते।

★

वैदिक वाङ्मयकी शिक्षा है कि 'पितृदेवो भव', 'मातृदेवो भव' और 'आचार्य-देवो भव'—मानवो! पिता, माता और आचार्यका देवताके समान पूजन-समादर करो। इस उपदेशका अनादिकालसे प्रत्येक भारतीय पालन करता आ रहा है। इसके दो पक्ष हमारे सामने हैं, एक लौकिक और दूसरा अलौकिक। लौकिकपक्षमें लोकगत माता, पिता और आचार्य (गुरु, अध्यापक आदि) का समादर अभीष्ट है। वास्तवमें हमपर माता, पिता तथा गुरुके कितने अनन्त उपकार हैं? आजीवन भी सेवा करके उनका ऋण चुकाया नहीं जा सकता। जो लोग माता, पिता और गुरुके उपकारको नहीं मानते, वे भयंकर कृतघ्नताका परिचय देते हैं। ऐसे लोगोंको जीवनमें कदापि सुख-शान्ति सुलभ नहीं। लौकिक उन्नति या अभ्युदय और सन्तानधाराकी अखण्डताके साथ वंशवृद्धिके लिए हमें श्रद्धापूर्ण हृदयसे इन सब पितृजनोंकी सादर सेवा जीवित और मृत दोनों अवस्थाओंमें करनी चाहिए।

अलौकिक पक्षमें इनका एक दिव्य या अलौकिक स्वरूप भी है, जिसकी समाराधना सतत अपेक्षित है और सदासे होती चली आयी है। जैसे आचार्य-पूजाको ही लीजिये। इसके लिए हमारे यहाँ गुरु-पूर्णिमाका पर्व प्रचलित है। उस दिन हम लौकिक गुरुके प्रति तो श्रद्धा और सम्मान प्रकट करते ही हैं अलौकिक गुरु भगवान् वेदव्यास तथा जगद्गुरु श्रीकृष्णकी भी गुरु-रूपसे अर्चना-पूजा करते हैं।

इसी तरह पितृपूजाका भी पर्व है आश्विनका कृष्णपक्ष, जिसे हम 'महालय' या 'पितृ-पक्ष' कहते हैं। जीवित पिताका तो सत्कार सेवा-पूजा होनी ही चाहिए; किन्तु जब वे परलोक गत हो जायें तब उनके अलौकिकस्वरूपके प्रति श्रद्धा, सम्मान प्रकट करनेके लिए पितृपक्षका पर्व आता है। उसमें पितरोंकी क्षयतिथिपर हम पिता-पितामह आदिके प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हैं। इस श्रद्धाञ्जलिको ग्रहण करके उनतक पहुँचानेके लिए हमारे आवाहन करनेपर दिव्य पितर आते हैं और हमारी समर्पित वस्तुओंका सार एवं सद्भावना लेकर जाते हैं तथा कर्मवश हमारे पिता आदि सम्बन्धी जहाँ, जिस स्थितिमें हों वहाँ उन्हें सन्तोष देनेकी व्यवस्था करते हैं।

इसी तरह मातृपूजाका भी अलौकिक पक्ष है मातृपक्ष—नवरात्रमें दुर्गा माताकी पूजा। अपनी जन्मदायिनी माताके जीवनकालमें तो हमें उसे पूर्ण सुख पहुँचानेकी चेष्टा करनी ही चाहिये। देहत्यागके अनन्तर भी पितृपक्षमें उनके लिये श्राद्ध आदि करना चाहिए। नवरात्रमें तो हम समष्टिमाताकी आराधना करते हैं, जो हम सबकी सम्पूर्ण जगत्‌की आदिजननी सनातन माता हैं। 'कलौ चण्डीविनायकौ' की उक्तिके अनुसार हमारी आराधना स्वीकार करके जगदम्बा दुर्गा हम सबका परम कल्याण सम्पादन करती है।

नवरात्रके बीतनेपर तत्काल हम विजयादशमीका पर्व मनाते हैं; जो समस्त भारतके लिए विजय, शौर्य तथा उत्साहका पुण्य प्रतीक है। हम इस पर्व द्वारा मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामके सात्त्विक शौर्य और सदाचारपूर्ण जीवनका स्मरण करते हैं तथा स्वयं भी उनके आदर्शोंपर चलकर आसुरी शक्तिके संहारका व्रत लेते हैं। देवासुरसंग्राम दैवी-आसुरी वृत्तियोंका शाश्वत संघर्ष है जो हमारे जीवनमें चलता रहता है। हमें दैवीसम्पत्तिके गुणोंको प्रबल बनाकर आसुरी शक्तिके दुर्गुणोंका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए तथा देश, समाज, धर्म और राष्ट्रकी रक्षाके लिए दृढ़-संकल्प लेकर सदा उत्साह, शौर्य एवं विश्वाससे अपने हृदयको भरा-पूरा रखना चाहिए।

दुर्भाग्यसे इन दिनों हमारे देशको युद्धाह्वानसे समाच्छन्न भारी शरणार्थी समस्याका सामना करना पड़ रहा है, इधर देशके सभी भागोंमें भीषण बाढ़ और वर्षाके कारण अन्न-धन एवं जनकी भी भारी क्षति उठानी पड़ी है; परन्तु हमें धैर्य रखकर शौर्य-उत्साह एवं साहसको संजोये रखना चाहिए और भगवान्‌का स्मरण करते हुए न्यायके लिए संघर्षरत रहना चाहिए। न्यायसे एक पग भी विचलित होना कायरता है। स्मरण रहे कि—

> निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
> लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
> अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
> न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥

बस, इस मासका यह सन्देश हम गाँठ बाँध लें तो हमारा बेड़ा पार हो जाय। अशरण-शरण प्रभु हम भारतीयोंको ऐसी सद्बुद्धि योजित करें, यही उनके चरणोंमें याचना है।

•

नीतिवचनामृत

पुरुषार्थ की प्रबलता

(लक्ष्मण की वीरोक्ति)

विक्लवो वीर्यहीनो यः स दैवमनुवर्तते ।
वीराः संभावितात्मानो न दैवं समुपासते ॥

भीरु वीर्य-बल रहित जे
दैवत भजत सदैव ।
संभावित वर वीर नहिं—
कबहुँ अराधैं दैव ॥

दैवं पुरुषकारेण यः समर्थः प्रबाधितुम् ।
न दैवेन विपन्नार्थः पुरुषः सोऽवसीदति ॥

पौरुष ते जो दैव के—
विदलन - दमन - समर्थ ।
सो नहिं सीदत, दैव हू—
ताको हरत न अर्थ ॥

द्रक्ष्यन्ति त्वद्य दैवस्य पौरुषं पुरुषस्य च ।
दैवमानुषयोरद्य व्यक्ताव्यक्तिर्भविष्यति ॥

आज दैव - पुरुषार्थके पौरुष पेखिय लोग ।
अबल - सबल को दुहुन मैं व्यक्त होय यह जोग ॥

पंजीयन सं० एल-८२७

सूक्ति-सुधा

(१)

मृगमीनसज्जनानां
तृणजलसंतोषविहितवृत्तीनाम् ।
लुब्धकधीवरपिशुना
निष्कारणवैरिणो जगति ॥

मृग मछरी सज्जन जियें—
लहि तृण जल संतोष ।
तऊ व्याध धीवर पिशुन—
बैर करत बिनु दोष ॥

(२)

अन्यस्माल्लब्धपदो
नीचः प्रायेण दुःसहो भवति ।
रविरपि तपति न तादृग्
यादृक् तपति वालुकानिकरः ॥

नीच होत बहुधा दुसह
और न सों पद पाय ।
तस न तपत दिननाथ हू
जस सिकता—समुदाय ॥

श्रीकृष्ण जन्मस्थान-सेवासंघ मथुराके लिए देवधरशर्मा द्वारा आनन्दकानन प्रेस, डुण्ढिराज, वाराणसी-१ में मुद्रित एवं प्रकाशित